* ओ३म् *

व्यवहारभानुः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितः

पठनपाठनव्यवस्थायां
तृतीयं पुस्तकम्

अजमेरनगरे
वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

दयानन्दजन्माब्द १२४, वि० संवत् २००५

१७वीं वार
२०००

दिसम्बर १९४८

मूल्य ≡)

भूमिका

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक २ वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ, और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये, जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक 'नमस्ते' आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान निरभिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं।

जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं, और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। इससे जो थोड़ी विद्या वा लोभी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता।

इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस 'व्यवहारभानु' ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता हूं, कि जिसको देख दिखा, पढ़ पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने २ मित्र तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।

इस ग्रन्थ में कहीं २ प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है, कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना २ स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें।

काशी
सं० १९३६
फाल्गुन शुक्ला १५

दयानन्दसरस्वती

* ओ३म् *

व्यवहारभानुः

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़कर उलटे आचरण करने में प्रसन्न होगा। क्या यथायोग्य व्यवहार किये विना किसी को सर्व सुख हो सकता है? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता? और इसके विना पशु के समान होकर दुखी नहीं रहता है? जिस-लिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्य्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहारसम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।

(प्रश्न) कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें?

(उत्तर) पढ़ानेवालों के लक्षण:—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखदुःखादि का सहन, धर्म्म का नित्य सेवन करनेवाला हो, जिसको कोई पदार्थ

धर्म से छुड़ा अधर्म की ओर न खींच सके, वह 'पण्डित' कहाता है ॥ १ ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ २ ॥

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्म्मों को कभी न सेवनेहारा, न कदापि ईश्वर, वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है, वही मनुष्य 'पण्डित' के लक्षणयुक्त होता है ॥२॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥३॥

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्य्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक २ समझ निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को जानकर उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्त्तमान किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में विना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करनेवाला मनुष्य है, यही 'पण्डित' की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है ॥ ३ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते, अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट भ्रष्ट होजाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े २ दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं, वे मनुष्य 'पण्डितों' की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथाओं को करने, विना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने, सुनी विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही 'पण्डित' कहाता है ॥ ५ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्य्यमर्य्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ ६ ॥

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार, जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है, वही 'पण्डित' नाम धराने के योग्य होता है ॥ ६ ॥

जहां ऐसे २ सत्य पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़नेवाले होते हैं, वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है। और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ानेहारे होते हैं, वहां अविद्या अधर्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है—

(प्रश्न) कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें ?

(उत्तर) मूर्ख के लक्षण:—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमंडी, दरिद्र होकर धनसम्बन्धी बड़े २ कामों की इच्छा वाला और बिना किये बड़े २ फलों की इच्छा करनेहारा है ॥ १ ॥

दृष्टान्त—जैसे एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था। वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था। वह घी लेकर घड़े में भर किसी मजूर के खोज में था। वहां शेखचिल्ली आ निकला, उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर लेजाने की क्या मजूरी लेगा। उसने कहा कि आठ आने। आगे बनिये ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले। उसने कहा अच्छा। शेखचिल्ली घड़ा ले चला और बनिया पीछे २ चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे, दश रुपया सेठ को दूंगा और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी, वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायंगे। इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़, फिर सब जगह कोठियां करूंगा और सब राजा लोग मेरे कर्ज़दार हो जायं गे इत्यादि बड़े २ मनोरथ करने लगा।

और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रुई ले सूत कात कर बेचूंगा, आठ आने मिलेंगे, फिर आठ आने से एक रुपया हो जायगा, फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे, उनसे एक बकरी लूंगा, जब उसके कच्चे बच्चे होंगे तब उनको बेच एक गाय लूंगा, उसके कच्चे बच्चे बेच भैंस लूंगा, उसके कच्चे बच्चे बेच एक घोड़ी लूंगा, उसके कच्चे बच्चे बेच एक हथिनी लूंगा और उसके कच्चे बच्चे बेच दो बीबियां व्याहूँगा। एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम वेप्यारी रक्खूंगा। जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे तब कहूँगा, बच्चे आओ बैठो, और जब वेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें, तब कहूँगा नहीं २, ऐसा कहकर शिर हिला दिया। घड़ा गिर पड़ा फूट गया, और घी भूमि पर फैल के धूलि में मिलगया। बनिया रोने लगा और शेखचिल्ली भी रोने लगा।

बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया और रोता क्यों है, तेरा क्या नुक्सान हुआ? (शेखचिल्ली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ तू क्यों रोता है? (बनिया) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था, उस पर बड़े २ लाभ का विचार किया था, वह मेरा सब बिगड़ गया, मैं क्यों न रोऊं! (शेखचिल्ली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई, मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया, मैं क्यों न रोऊं! (बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आजायगा? (शेखचिल्ली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायगा! तू बड़ा मूर्ख है। (बनिया) तू मूर्ख तेरा बाप।

दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे, फिर मारपीट कर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया, और बनिये ने धूलि मिले हुए घी को ठिकरे में उठाकर अपने घर की राह ली।

ऐसे ही स्वसामर्थ्य के विना अशक्यमनोरथ किया करना मूर्खों का काम है। और जो विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग 'मूर्ख' कहते हैं।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ २॥
(महाभारत उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर, अ० ३२)

जो विना बुलाये जहां तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुख की हानि कर लेवे, वही मनुष्य 'मूढ़बुद्धि' और मनुष्यों में नीच कहाता है॥ २॥

जहां ऐसे २ मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं, वहां सुखों का तो दर्शन कहां किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे २ मूढ़ों का प्रसङ्ग वा इनके साथ पठनपाठनक्रिया को व्यर्थ समझ कर पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसङ्ग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें। ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षणविधायक श्लोक विदुरप्रजागर के ३२ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों:—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथा त्यागित्वमेव च॥

एते वै सप्तदोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥

आलस्य, अभिमान, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्डबण्ड बातें करना, जड़ता, कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ लालच ये ७ सात विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी 'दोष' हैं, क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है, उसको विषयसम्बन्धी सुख चैन कहां ? इसलिए विषयसुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे, नहीं तो परमधर्म्मरूप विद्या का पढ़ना पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा। ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ३९ में लिखे हैं।

(प्रश्न) कैसे २ मनुष्य विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं ?

(उ०) ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप !
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ॥ १ ॥

न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्वयः कोटयस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥ २ ॥

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि—हे राजन्! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन। जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेके मरण-पर्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥ १ ॥

उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता, ऐसा तू जान। कि जिसके प्रताप से अनेक क्रोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुण-स्वभावयुक्त और रोगरहित, पराक्रमसहित, शरीर ब्रह्मचर्य्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्मादि करते हैं, उनके वे सब उत्तम गुण बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्म्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते हैं, और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ॥ ३ ॥

(प्रश्न) 'शूरवीर' किनको कहते हैं ?

(उ०) वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः ।
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ॥ १ ॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे ।
अरण्यगृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ॥ २ ॥

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढ़ोत्साही, उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक (पिता) की सेवा करके शूरवीर ॥ १ ॥

जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथिरूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म और जो गृहाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं, वे ही सब सुखों के लाभ करने कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं, कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभगुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ॥ २ ॥

(प्र०) शिक्षा किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित होसकें, वह 'शिक्षा' कहाती है ?

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह 'विद्या' और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह 'अविद्या' कहाती है।

(प्र०) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या २ कर्म करना चाहिये ?

(उ०) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

(प्र०) ब्रह्मचारी किसको कहते हैं ?

(उ०) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये तथा आचार्य-कुल में जाकर विद्या ग्रहण के लिये प्रयत्न करे वह 'ब्रह्मचारी' कहाता है।

(प्र०) आचार्य किसको कहते हैं?

(उ०) जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।

(प्र०) अपने सन्तानों के लिये माता, पिता और आचार्य क्या २ शिक्षा करें?

(उ०) मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥

शतपथब्राह्मण ॥

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो, क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्र धारण करने, माता, पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें, और जैसा २ उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय वैसी २ उत्तम बातें सिखलाते जायँ। इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता पिता और इनके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

(प्र०) क्या जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें?

(उ०) नहीं, जो अपने पुत्र पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे बेटियां और विद्यार्थी! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी डाढ़ी मूंछ पकड़ले, इसकी जटा पकड़ के ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले, ओढ़नी वा टोपी फेंकदे, खेल, कूद, हँस, रो, तुम्हारे विवाह

में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं, उनको माता पिता और आचार्य न समझना चाहिये, किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं, क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दंड देते हैं, वे क्योंकर माता, पिता और आचार्य हो सकते हैं ?

क्योंकि जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ-गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं वे माता, पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते । और जो अपने २ संतान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेद शास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें, कि जिससे विद्याप्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही 'माता पिता और आचार्य' कहाते हैं ।

(प्र०) विद्या किस २ प्रकार और किन कर्मों से होती है ?

(उ०) चतुर्भिःप्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥

महा० अ० १ । १ । १ । आ० १ ॥

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल । 'आगमकाल' उसको कहते हैं कि जिससे

मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें। 'स्वाध्यायकाल' उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक २ हृदय में दृढ़ कर सके। 'प्रवचन-काल' उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना। 'व्यवहारकाल' उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है, तब यह करना यह न करना वही ठीक २ सिद्ध हो के वैसा ही आचरण करना हो सके, ये चार प्रयोजन हैं।

तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। 'श्रवण' उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो २ अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें, उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना। 'मनन' उसको कहते हैं कि जो २ शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता, और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या २ हानि होती है, इत्यादि। 'निदिध्यासन' उसको कहते हैं कि जो २ अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं, वे ठीक २ हैं वा नहीं, इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना। और 'साक्षात्कार' उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं, उनको

यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

(प्र०) आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा २ वर्त्ताव करें और कैसा २ न करें?

(उ०) मिथ्या को छोड़ के सत्य बोलें, सरल रहें, अभिमान न करें, आज्ञा पालन करें, स्तुति करें, निंदा न करें, नीचे आसन पर बैठें, ऊँचे न बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें, जब कुछ वे पूछें तो हाथ जोड़ के नम्र होकर उत्तर देवें, घमंड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें, शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले कभी न रक्खें, जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसको पूरी करें, जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें।

उत्तमों का सदा मान करें, अपमान कभी न करें, उपकार मान के कृतज्ञ होवें, किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें, पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न रहें, जिस २ कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस २ को करते जायँ, जो २ बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें, बुरे कामों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायं।

(प्र०) आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें?

(उ०) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी,

परोपकारी, वीर, धीर, गंभीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा आदि के प्रियकारी हों। जब किसी से बातचीत करें तब जो २ उसके मुख से अक्षर पद वाक्य निकलें, उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें।

जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने, विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्ट सट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करें तो उनको यथापराध कठिन दण्ड देवे। इस में प्रमाणः—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।

लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥ १ ॥

महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू० ८। आ० १॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनके लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के लड़की लोग व्यथा को प्राप्त होजायं ॥ १ ॥

(प्र०) पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ?

हुड़दङ्ग उवाच—हुड़दङ्गा कहता हैं कि जो पढ़ता है, वह भी मरता है और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है, फिर पढ़ने पढ़ाने में दांत कटाकट क्यों करना ?

(उ०) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥ १ ॥

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दङ्गे ! जो तू जानता है सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म-मरण आंख से देखना कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा होजायं, किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना 'विद्या का फल' है। क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भया किसी को क्षण भर सुख हुआ, न हुआ सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके। इसलिये सबको उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करें ॥ १ ॥

(हुड़दङ्गा) हम देखते हैं कि बहुतसे मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं ?

(सज्जन) सुनो प्रिय ! सुख दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहां विद्यारूप सूर्य्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है, वहां दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या कथा

कहना है ? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है।

हुड़दङ्गा शिर धुनकर चुप होगया।

(प्र०) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें ?

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उनके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाय। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त होजावें। दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हज़ारों पदार्थ यथावत् जानते जायं। अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस २ प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न होजायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊँ, ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से मेरे गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना हो। परम धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते, इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायं।

विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर

चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें। रात दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को बढ़ाते जावें। जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खड़े भी न रहें। जहां २ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहां से अलग कभी न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करनेहारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करें, किन्तु जो २ ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करनेहारे पदार्थ हों उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो २ पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों उनको छोड़कर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें, इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं।

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है, क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है। उसका निर्णय करने में क्या २ निश्चित साधन हैं ?

(उ०) पांच हैं। उनमें प्रथम—ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या; दूसरा—सृष्टिक्रम; तीसरा—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण; चौथा—आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त; और पांचवां—अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।

'ईश्वरादि से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो २ ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारिता आदि स्वभाव और वेदो-

पदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो २ असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण, कर्म, स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं।

दूसरा 'सृष्टिक्रम' उसको कहते हैं कि जो २ सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या, और अनुकूल हो वह सत्य कहाता हैं। जैसे कोई कहे कि विना मा बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है, ऐसी २ बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या और माता पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

तीसरा 'प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो २ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक २ ठहरे वह सत्य और जो २ विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है ? दूसरे ने कहा कि पृथ्वी, यह 'प्रत्यक्ष' है। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना, 'अनुमान'। जैसे विना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता, वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त 'उपमान'। और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश, वह 'शब्द'। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को 'ऐतिह्य'। एक बात को सुनकर विना सुने कहे प्रसङ्ग से दूसरी बात को जान लेना, यह 'अर्थापत्ति'। कारण से कार्य होना आदि को 'सम्भव'। और आठवां अभाव अर्थात्

किसी ने किसी से कहा कि जल लेआ, उसने वहां जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहां जल है वहां से लाकर देना चाहिये, यह 'अभाव' प्रमाण कहाता है। इन आठ प्रमाणों से जो विपरीत न हो वह २ सत्य और जो २ उलटा हो वह २ मिथ्या है।

'आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो २ सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित सब के हितैषी विद्वान् सब के सुख के लिये प्रयत्न करें, वे धार्मिक लोग 'आप्त' कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है।

'आत्मा से परीक्षा' उसको कहते हैं कि जो २ अपना आत्मा अपने लिये चाहे सो २ सब के लिये चाहना, और जो २ न चाहे सो २ किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये।

इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने पढ़नेहारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

(प्र०) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

(उ०) जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा-पालन, परोपकार करनारूप 'धर्म,' जो इससे विपरीत वह 'अधर्म' कहाता है, क्योंकि जो सब के अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर

विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा ? देखो, किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूँ। फिर उसने पूछा और जो वह मानता है वा जो मैं मानता हूँ वह क्या है ? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य ? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी का नाम धर्म जानो। परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है।

(प्र०) जब २ सभा आदि व्यवहारों में जावें, तब २ कैसे २ वर्त्तें ?

(उ०) जब सभा में जावें तब दृढ़ निश्चय कर लेवें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा। अभिमान न रक्खे, अपने को बड़ा न माने। अपनी बात का कोई खण्डन करे उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे उस वचन को ध्यान देकर सुन के जो उसमें कुछ असत्य भान हो उस अंश का खण्डन अवश्य करे, और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, बड़ाई छोटाई न गिने, व्यर्थ बकवाद न करे, कभी मिथ्या का पक्ष न करे, और सत्य को कदापि न छोड़े। ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर दृष्टि रक्खे। जिससे, सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो उसको करे, सज्जनों का संग करे और दुष्टों से अलग रहे, जो २ प्रतिज्ञा करे वह २ सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे, इत्यादि कर्म्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे।

(प्र०) जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसको कहते हैं ?

(उ०) जो आपतो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे वह 'जड़बुद्धि' और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे वह 'तीव्रबुद्धि' कहाता है।

यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो—'कहीं एक रामदास वैरागी का चेला भूपालदास पाठ करता २ कुए पर पानी भरने को गया। वहां एक पण्डित बैठा था। उसने अशुद्ध पाठ सुन कर कहा कि तू "स्री गनेसायनमः" ऐसा घोकता है, सो शुद्ध नहीं है, किन्तु "श्रीगणेशाय नमः" ऐसा शुद्ध पाठ कर। तब वह बोला कि मेरे महन्तजी बड़े पंडित हैं, उन्होंने जैसा मुझको बताया है वैसा ही घोखूंगा। उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जा के कहा कि महाराजजी! एक बम्मन मेरे पाठ को असुद्ध बतलाता है।

तब खाकीजी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन को यहां बुला लाओ, वह गुरु का फटकारा मेरे चेले को क्यों बहकाता और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है ? चेला गया पण्डितजी को बुला लाया। पण्डित से महन्त बोले कि तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ? पंडित ने कहा कि एक प्रकार का। महन्तजी ने कहा कि तू कुछ भी नहीं जानता, देख मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूँ। एक—स्रीगनेसाजनम। दूसरा—स्रीगनेसापनम। तीसरा—स्रीगनेसायनम। (पंडित) महन्तजी! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम श का स। ण का न। शा का सा। य का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना पांच अशुद्धि हैं। महन्तजी बोले—चलबे गुरु के बड़े घर में सब शुद्ध हैं।

पंडित चुपकर चले आये, क्योंकि "सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्" सब का औषध शास्त्र में कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का औषध नहीं कहा। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे, जो वे सुधरा चाहें तो विद्वान् उपदेश कर के उनको अवश्य सुधारें।

(प्र०) जो माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और करने का उपदेश करें तो मानना चाहिये वा नहीं?

(उ०) कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा! बिटिया! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज़ पावे तो उठा लाना, कोई एक गाली दे तो उसको तू पचास गाली दे, लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम खाना, पीना आदि कर्म्म करने में कुछ दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरंपरा है। सुनो प्रमाण—"कुलधर्म्मः सनांतनः" जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है उसके करने में कुछ भी दोष नहीं।

(सुसन्तान आह) जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज़ उठा लाना आदि कर्म कहे वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं श्रेष्ठों के नहीं, किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना, किसी की करोड़ों की चीज़ जंगल में पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की मन में भी इच्छा न करना आदि कर्म्म किया करते हैं। जो २ तुम्हारे उत्तम कर्म्म और उपदेश हैं उन २ को तो हम ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं, परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना परमधर्म है, क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें?

(कुसन्तान आह) श्रेष्ठ माता पिता आचार्य्य अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह करदो, नहीं तो हम इधर उधर लीला करेंहींगे। बाग़ में जाके नाच तमाशा करेंगे वा वैरागी हो जायंगे। पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है, हमको पढ़के क्या करना है, क्योंकि हमारी सेवा करने वाले तुम तो बने ही हो। हमको सैल, सपट्टा, सवारी, शिकारी, नाच, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने के लिये खूब दिया करो, नहीं तो हम जब जवान होंगे तब तुमको समझ लेंगे—"दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, युद्धमेव भविष्यत्यन्यत्किम्"। ऐसे २ सन्तान दुष्ट कहाते हैं।

उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि सुनो लड़को! अभी तुम्हारी पढ़ने, गुनने, सत्सङ्ग करने, अच्छी २ बात सीखने, वीर्यनिग्रह और आचार्य आदि की सेवा करने, विद्वान् होने, शरीर और आत्मा को पूर्ण युवावस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है, जो चूकोगे तो फिर पछतावोगे, पुनः ऐसा समय तुमको मिलना अति कठिन है। क्योंकि जब तक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रबन्ध करने वाले हैं, तब तक तुम सुशिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को संचित करो, यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता, और जितना दान करो उतना ही अधिक २ बढ़ता जाता है। इसके होने से जहां रहोगे वहां सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्म्मों को जान कर सिद्ध कर सकोगे। हम जब

तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलङ्कृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा, और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे, क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य धन प्राप्त भी है परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट भ्रष्ट होजाते और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ १॥
तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक ७। अनुवाक ११॥

जो २ उत्तम चरित्र हैं सो २ करो और कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो ॥ १ ॥

इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता पिता आचार्य्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

(प्र०) राजा प्रजा और इष्ट मित्र आदि के साथ कैसा २ व्यवहार करें ?

(उ०) राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र, मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये आत्मा के समान प्रीति से वर्त्तें, परन्तु अधर्म्म के लिये नहीं। पड़ोसी के साथ ऐसा वर्त्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं, वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें। स्वामी सेवक के साथ ऐसा वर्त्तें कि जैसा अपने हस्तपादादि अङ्गों की रक्षा के लिये वर्त्तते हैं। सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्तें कि जैसे अन्न जल वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिये होते हैं।

(प्र०) ब्रह्मचर्य का क्या २ नियम है ?

(उ०) कम से कम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये, और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौवीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करें, किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है।

(प्र०) प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है कि सुनोजी! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं, क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी तो मूर्ख का अपमान कर इधर उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेंगी।

(उ०) सज्जनः समाधत्ते—श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है, सुनोजी! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये, क्योंकि वह भी पढ़ कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगाड़ी चलाकर इधर उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल सपाटा किया करेगा।

(प्र०) प्रमादी—हां, पुरुष भी न पढ़ें तो अच्छी बात है, क्योंकि पढ़े हुए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं।

(उ०) सज्जन—सुनोजी! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सङ्ग का दोष है, और जो पढ़ना पढ़ाना धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता और जो पढ़ना पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है वह तो सब के सुख और उपकार ही के लिये होता है।

(प्र० कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है ?

(उ०) सुनो प्रमाणः—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ १ ॥

अथर्ववेद कां० ११ । अ० ३ । सू० ५ । मं० १८ ॥

अर्थ—जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्य्यन्त शास्त्रों को पढ़कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्थावाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें ॥ १ ॥

क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे, और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना कल्याण किया चाहे ?

(प्र०)-विद्या को किस २ क्रम से प्राप्त हो सकता है ?

(उ०) वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस २ विद्या के लिये जो २ साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं उन २ को पढ़कर वेदादि पढ़ने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं।

(प्र०) विना पढ़े हुये मनुष्यों की क्या गति होगी ?

(उ०) दो, एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे और वह धर्माचरण किया चाहे तो विद्वानों के सङ्ग और अपने

आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है, क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं, परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये ?

जब किसी को कोई चोरी वा किसी पर झूठा जाल लगाता है, तो क्या उसको अच्छा लगता, और क्या जिस २ कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का, लज्जा और भय नहीं होता वह २ धर्म किसी को विदित नहीं होता ? क्या जो कोई विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी, और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है वह धर्मात्मा नहीं है ? प्रमाणः—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥१॥

य० अ० ४० । मं० ३ ॥

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करनेहारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं और वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं, और जो आत्मरक्षक अर्थात्

आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं। वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ॥१॥

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?

(उ०) जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह 'विद्या' और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह 'अविद्या' कहाती है।

(प्र०) न्याय और अन्याय किसको कहते हैं?

(उ०) जो पक्षपातरहित सत्याचरण करना है वह 'न्याय' और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है वह 'अन्याय' कहाता है।

(प्र०) धर्म [और अधर्म] किसको कहते हैं?

(उ०) जो न्यायाचरण सब के हित का करना आदि कर्म हैं उनको 'धर्म' और अन्यायाचरण सब के अहित के काम करने हैं उनको 'अधर्म' जानो।

महामूर्ख का लक्षण

एक प्रियदास का चेला भगवानदास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा था। एक दिन उनसे पूछा कि महाराज! मुझको संस्कृत बोलना नहीं आया, गुरु बोले—सुन बे! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आजाती है। जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है तब जैसे कुंजियों से ताला खोल कर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं, वे ऐसी युक्ति

बतला देते हैं कि हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थ-विद्या तत्क्षण आजाती है। सुन! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है। (भगवानदास) महाराजजी! वह क्या है? (गुरु) संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों उन पर एक २ विन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं। अच्छा तो महाराजजी! लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर विन्दु धर के कैसे संस्कृत हो जाते हैं। देखो—लोंटां। जंलं। रोंटीं। दांलं। शांकं। चेला बोला वाह २ गुरु के विना क्षण-मात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है? भगवानदास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया:—

बांपं आंजां नंमं स्कृंत्यं परं पांजं तंथैवं चं।
मंयां भंगंवांनंदांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहंम् ॥

जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया तब तो प्रियदासजी भी बहुत प्रसन्न हुए कि जो चेले हों तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी, और गुरु हो तो मेरे सदृश हो। ऐसे मनुष्य का क्या औषध है विना अलग रहने के?

(प्र०) विद्या पढ़ते समय वा पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं?

(उ०) बराबर पढ़ाता जाय। क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़ के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है, जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता,

और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं।

(प्र०) क्षुद्रबुद्धिरुवाच—सभी विद्वान् होजावेंगे तो हमको कौन पूछेंगे? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे, पूजापाठ में न बुलावेंगे। विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है, क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है।

जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये, तो—

(अल्पबुद्धि) तू कौन है? क्या काम करता? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है?

(उ०) मैं तो महाराज आपका दास शूद्र हूं, कुछ जिमीदारी खेतीवाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन देन का भी व्यवहार है।

(नष्टमति) छी! छी! छी! तुमको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा तो क्या नरक में न पड़ेगा? हां, तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है। जब तेरी सुनने की इच्छा हो तब हमको बुला लेना, सुना देंगे, परंतु आप से आप मत बांच लेना नहीं तो अधर्मी हो जावेगा, जो कुछ भेट पूजा लाया हो सो धर के चला जा और सुन, हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी, खूब कमा और हमारी सेवा किया कर, इसी में तेरा कल्याण और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा।

(दास) महाराज! मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या पढ़ना बुरी चीज़ है कि दोष लगजाय?

(वक्रवृत्ति) बस २, तुझको किसी ने बहका दिया है, जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है। हाय ! क्या करें कलियुग आगया, विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये।

(दास) क्या महाराज! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई करदी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है ?

(स्वार्थी) हां २, जो सत्युग होता तो तू हमारे सामने ऐसा बर २ कर सकता ?

(दास) अच्छा तो महाराज ! आप जो नहीं पढ़ाते तो हमको जो कोई पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे।

(अंधकारी) सुन २, कलियुग में और क्या होना है ?

(दास) आपकी हम सेवा करें उसके बदले आप हमको क्या देंगे ?

(मार्जारलिङ्गी) आशीर्वाद ।

(दास) उस आशीर्वाद से क्या होगा ?

(धूर्त) तुम्हारा कल्याण ।

(दास) जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है ?

(पोप उवाच) अब क्या तू हमसे शास्त्रार्थ करता है ?

(प्र०) 'पोप' का क्या अर्थ है ?

(उ०) यह शब्द अन्य देश की भाषा का है, वहां तो इसका अर्थ पिता और बड़े का है, परन्तु यहां जो केवल धूर्तता करके अपना मतलब सिद्ध करनेहारा हो उसी का नाम है।

(प्र०) जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं ?

(उ०) कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है, जिसने विद्या के प्रकाश से

अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जान के भी नहीं करता, वैसा ही जो पढ़ के भी अधर्म्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

(प्र०) जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता और अच्छे काम को नहीं कर सकता, तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नहीं?

(उ०) दोष ही होता, क्योंकि जो उसने अधर्म्म कर लिया उसका फल अवश्य होगा और जानकर भी धर्म्म को न किया उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा, जैसे कोई मनुष्य कुए में गिरना बुरा जानके भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा और अच्छे मार्ग में चलना जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा? इसलिये:—

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः।
सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति ॥ १ ॥

वही 'सत्पुरुष' का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना। और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है वही 'असत्पुरुष' का लक्षण है ॥ १ ॥

इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों।

(प्र०) पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद हैं?

(उ०) उद्योग का नाम 'पुरुषार्थ' और उसके चार भेद हैं। एक—अप्राप्त की इच्छा। दूसरा—प्राप्त की यथावत् रक्षा।

तीसरा-रक्षित की वृद्धि; और चौथा-बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना, 'पुरुषार्थ के भेद' हैं। जो २ न्याय धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना, उसी प्रकार उसकी सब ओर से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार नष्ट भ्रष्ट न होजाय। उसको धर्म्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना, और बढ़े हुए पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना, ये 'चार भेद' हैं।

(प्र०) किस २ प्रकार से किस २ व्यवहार में तन, मन, धन लगाना चाहिये?

(उ०) निम्नलिखित चारों में—'विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा'।

विद्या के लिये—शरीर का आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी, मन से अत्यन्त विचार करना कराना, और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्यादान करना कराना चाहिये। परोपकार के लिये—शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म्म करके अपना २ जीवन सुख से किया करें। 'अनाथ' उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो, जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी, अङ्ग-भङ्ग आदि हैं, उनको भी तन, मन, धन लगाकर सुखी रख के जिस २ से जो २ काम बन सके, उस २ से वह २ कार्य्य सिद्ध कराना चाहिये, कि जिससे कोई आलसी होके नष्टबुद्धि न हों। और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन, मन, धन लगाया जाय उतना थोड़ा है, परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये।

(प्र०) विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे २ वर्त्तें ?

(उ०) कभी कोई किसी का अप्रियाचरण अर्थात् जिस २ व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट होवे सो काम न करें, जैसे कि व्यभिचार आदि। एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक दूसरे की सेवा करें। पुरुष भोजन, वस्त्र, आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खे और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे। स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन, खान पान प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे कि जिससे उत्तम सन्तान हो और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय।

(प्र०) ऐसा न करे तो क्या बिगाड़ है ?

(उ०) सर्वस्व नाश। क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है। सुनो, मनुजी क्या कहते हैं:—

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

मनु० अ० ३। ६०॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है उसी में निश्चित कल्याण स्थित रहता है।

परन्तु यह बात तब होगी कि जब ब्रह्मचर्य्य से विद्या शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करें, क्योंकि जितना सुख, विद्या और उत्तम प्रजा की हानि बाल्यावस्था में विवाह से होती है, उतना ही सुख-लाभ ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था में

परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है। जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं, उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं कि जिनमें बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म्म और सुशीलतादि शुभगुण पूर्ण होके महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अतिप्रशंसित कर देते हैं।

(प्र०) मनुष्यपन किसको कहते हैं ?

(उ०) इस मनुष्यजाति में एक ऐसा गुण है कि जैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

(प्र०) वह कौनसा है ?

(उ०) जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार स्वभाव है—बलवान् से डरना, निर्बल को डराना, और पीड़ा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्म्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शंका न करके इनको परपीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन, मन और धन से सदा करना है, यही मनुष्य जाति का निज गुण है। क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय शंका नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।

(प्र०) क्योंजी! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो! व्यापार में सत्य बात कहदें तो किसी

पदार्थ का विक्रय न हो। हार जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े करें तो हार होजाय, इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं ?

(उ०) यह बात महामूर्खता की है। जैसे—'किसी ग्राम में लालबुझक्कड़ रहता था कि जिसको पांचसौ ग्रामवाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे। एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था, उसके पग के चिह्न जहा तहां मार्ग में बन रहे थे, उनको देख के खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाई! यह किसका खोज है ? सब ने कहा कि हम नहीं जानते। फिर सब की सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुला के पूछा कि तुम्हारे बिना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता। कहो यह किसके पग का चिह्न है ? जब वह रोया और रोकर हँसा तब सब ने पूछा कि तुम क्यों रोये और हँसे ? तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊंगा तब ऐसी २ बातों का उत्तर बिना मेरे कौन दे सकेगा, और हँसा इसलिये कि इसका उत्तर तो सहज है, सुनो—

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय।
पग में चक्की बांध के हिरना कूदा होय॥

जो जंगल में हिरन होता है वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है। तब सुनकर सब लोगों ने वाह २ बोल कर उसको धन्यवाद दिया कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई भी पण्डित नहीं है कि ऐसी २ बातों का उत्तर देसके'।

'जब वह लालबुझक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था, इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़ के खड़ा था, उसको कहा कि बेटा! बेर ले। तब उसने हाथों की अंजली बांध के बेरों को ले लिया, परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुँचा तब लड़का रोने लगा। उसको रोते देखकर उसकी मा और बाप भी रोने लगे कि हाय मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे रे रे! तब उसको सुनके अड़ौसी पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या! इसके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं! तब किसी ने कहा कि लालबुझक्कड़ को बुलाओ, उसके बिना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया, फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है? तब वह बोला कि सुनो लोगो! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है, एक तो यह है कि कुहाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो अभी छूट जाय, और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठाके नीचे धरो, फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ। तब लड़के का बाप बोला कि हम दरिद्र मनुष्य हैं हमारा छप्पर टूट जायगा तो फिर छाना कठिन है, तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुहाड़ा फिर क्या देख रहे हो। कुहाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैयार हुए तब तक दूसरे ग्राम से एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहां पहुंच कर देख के बोली कि इसका हाथ मत काटो, मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूँ। जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जली के नीचे अपनी अञ्जली करके बोली कि बेटा! मेरे हाथ में बेर छोड़ दे। तब वह बेर छोड़के अलग होगया। फिर उसको बेर देदिये,

खाने लगा। तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मरजायगा, क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसा ही करते तो न मरता। तब तो उसके मा बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिये? तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है, और जो हाथ के काटने से अभी यह मर जाता तो तुम क्या करते? मरण से बचने का कोई औषध नहीं। तब उनका घबराहट छूट गया।'

वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है, परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझले तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट होते जाते, और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम 'धर्म' और विपरीत का 'अधर्म' है। क्या धर्म का सुखलाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता? प्रमाणः—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ १ ॥ यजु० अ० १ । मं० ५ ॥

सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥

मुण्ड० ३ । खं० १ । मं० ६ ॥

न सत्यात्परमो धर्म्मो नाऽनृतात्पातकं परम् ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

अर्थः—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे ॥ १ ॥

क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है। इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां

सत्य की निधि परमात्मा है उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें ॥२॥

यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है ॥ ३ ॥

इससे धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं।

दृष्टान्त—'एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बज़ाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा? वह बोला कि सोलह आने, तुम भी कुछ कहो। बज़ाज और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते।

(ग्राहक) छः आने गज दो और सच २ लेने देने की बात करो। (बज़ाज) अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं चौदह आने दो। (ग्राहक) है तो टोटा परन्तु सात आने लेलो। (बज़ाज) अच्छा तो सच २ कहूं? (ग्राहक) हां। (बज़ाज) चलो एक आना टोटा ही सही तेरह आने दो, तुमको लेना हो तो लो। (ग्राहक) मैं सत्य २ कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा। (बज़ाज) तुमको लेना हो तो लो न लेना हो तो मत लो, परमेश्वर की सौगन्द बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जानकर मैं दे देता हूँ। (ग्राहक) धर्म की सौगन्द मैं सच कहता हूँ तुझको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा मैं तो दूसरे की दूकान से ले लूंगा, क्या तुम्हारी एक ही दुकान है! नव आने गज देदो नहीं तो मैं जाता हूँ। (बज़ाज) तुमने कभी ऐसा खरीदा भी है? नव आने गज जाओ, मैं सौ रुपये का लेता हूँ।

ग्राहक धीरे २ चला कि मुझको यह बुलाता है वा नहीं। बज़ाज तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें यह लौटता है वा नहीं। ज़ब न लौटा तब बोला सुनो इधर आओ। (ग्राहक) क्या कहते हो, नव आने पर दोगे? (बज़ाज) ए लो धर्म से कहता हूँ कि ग्यारह आने भी दोगे? ग्राहक साढ़े नव आने लो, कहकर कुछ आगे चला। बज़ाज ने समझा कि हाथ से गया, अजी इधर आओ २। (ग्राहक) क्यों तुम देर लगाते हो? व्यर्थ काल जाता है। (बज़ाज) मेरे बेटे की सौगन्द तुम इसको न लोगे तो पछताओगे, अब मैं सत्य ही कहता हूँ साढ़े दस आने देदो नहीं तो तुम्हारी राजी। (ग्राहक) मेरी सौगन्द तुमने दो आने अधिक लिये हैं, अच्छा दश आने देता हूँ इतने का है तो नहीं। (बज़ाज) अच्छा सवादश आने भी दोगे? (ग्राहक) नहीं २। (बज़ाज) अच्छा आओ बैठो, कै गज लोगे? (ग्राहक) सवागज। (बज़ाज) अजी कुछ अधिक लो। (ग्राहक) अच्छा, नमूना लेजाते हैं। अब तुम्हारी दूकान देख ली, फिर कभी आवेंगे तो बहुत लेंगे।

बज़ाज ने नापने में कुछ सरकाया। (ग्राहक) अजी देखें तो तुमने कैसा नापा? (बज़ाज) क्या विश्वास नहीं करते हो, हम साहूकार हैं व ठट्ठा है, हम कभी झूठ कहते और करते हैं? (ग्राहक) हांजी, तुम बड़े सच्चे हो। एक रुपया कहकर दश आने तक आये छः आने घट गये, अनेक सौगन्दें खाईं। (बज़ाज) वाहजी वाह! तुम भी बड़े सच्चे हो, छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो, अनेक सौगन्दें खा खा कर आये, सौदा झूठ के विना कभी नहीं हो सकता। (ग्राहक) तू तो बड़ा झूठा है। (बज़ाज) क्या तू नहीं है, क्योंकि एक गज कपड़े के

लिये कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है ? (ग्राहक) तू झूठा तेरा बाप, हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ? (बज़ाज) तू झूठा तेरी सात पीढ़ी भी झूठी । ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया, बज़ाज ने गज चट मारा, अड़ोसी पड़ोसी दुकानदारों ने जैसे तैसे छुड़ाया । (बज़ाज चल २, जा तेरे जैसे लाखों देखे हैं ! (ग्राहक) चलबे, तेरे जैसे जुवाचोर, टटपूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं । (अड़ोसी पड़ोसी) अजी झूठ के विना क़भी सौदा भी होता है ? जाओ जी तुम अपनी दुकान पर बैठो, और जाओ तुम अपने घर को । (बज़ाज) यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है । (ग्राहक) अबे मुख सम्हाल के बोल । (बज़ाज) तू क्या कर लेगा ? (ग्राहक) जो मैंने किया सो तैंने देख लिया और कुछ देखना हो तो दिखला दूं ? (बज़ाज) क्या तू गज से न पीटा जायेगा ?

फिर दोनों लड़ने को दौड़े, जैसे तैसे लोगों ने अलग २ कर दिये । ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है ।'

धार्म्मिकों का दृष्टान्त—(ग्राहक) इस दुशाले का क्या मूल्य है ? (बज़ाज) पांचसौ रुपये । (ग्राहक) अच्छा लीजिये । (बज़ाज) लो दुशाला । सच्चे दुकान वाले के पास कोई झूठा ग्राहक गया, इस दुशाले का क्या लोगे ? (बज़ाज) अढ़ाइसौ रुपये । (ग्राहक) दोसौ लो । (सेठ) जाओ यहां तुम्हारे लिये सौदा नहीं है । (ग्राहक) अजी कुछ तो कम लो । (साहूकार) यहां झूठ का व्यवहार नहीं है, बहुत मत बोलो लेना हो तो लो नहीं चले आओ । ग्राहक दूसरी बहुत दुकानों में माल देख मूल्य करके फिर वहीं आके अढ़ाईसौ रुपये देकर दुशाला लेगया । सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाकर बोला कि इस पीताम्बर का क्या लोगे ? (बज़ाज) पच्चीस रुपये ।

(ग्राहक) बारह रुपये का है, देना हो तो दो, कहकर चलने लगा। (बज़ाज) अजी अठारह दो। (ग्राहक) नहीं। (बज़ाज) चौदह दो। (ग्राहक) नहीं। (बज़ाज) तेरह दो। (ग्राहक) नहीं। (बज़ाज) अच्छा तो साढेबारह ही दो। (ग्राहक नहीं। (बज़ाज) सवा बारह दो। (ग्राहक) नहीं। (बज़ाज) अच्छा बारह का ही ले जाओ। (ग्राहक) लाओ, लो रुपये।

ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है, और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ को छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें। जिससे धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्मयुक्त किस २ कर्म से होता है ?

(उ०) जब तक मनुष्य सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नहीं है जिसको वह न जानता हो। सत्यविद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का सङ्ग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य, आदि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्म्मात्मा होता है, और जो इससे विपरीत है वह धर्म्मात्मा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता वह क्योंकर धर्म्मात्मा हो सकता है ? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्म्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है, परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा

राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है मनुष्य नहीं। और वे जहां एकांत में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते वहां तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शङ्का नहीं करते।

दृष्टान्त—'जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये। (विद्वान्) अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे परन्तु हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक २ लड़के को एकान्त में ले जाके जहां कोई भी न देखता हो वहां इसका कान पकड़ कर दो चार वार शीघ्र २ उठा बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों को लेके चले, एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता, उक्त काम करके झट चला आया, दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझको लड़का और मैं लड़के को भी देखता ही हूँ फिर वह काम कैसे कर सकता हूँ? पण्डित के पास आया। तब जो आया था उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया? उसने कहा हां, दूसरे को पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं? उसने कहा नहीं, क्योंकि आपने मुझको ऐसा कहा था कि जहां कोई न देखता हो वहां यह काम करना, सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझको देखता ही था। पण्डित ने कहा कि तू बुद्धिमान् और धार्मिक है मुझ से पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने योग्य नहीं है यहां से चला जा।'

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो? जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं वे ही 'धर्मात्मा' कहाते हैं।

(प्र०) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का संभव है वा नहीं ?

(उ०) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं। और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है, परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता। क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उस में निश्चित रह सकते, और अविद्वान् ठीक २ स्थिर नहीं रह सकते हैं।

दृष्टान्त—'जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था। उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री ने कहा कि आज कल भोजन भी नहीं मिलता, बहुत कष्ट है, तुम पहिले दानाध्यक्ष के पास जाना। वह राजा के पास ले जाके कुछ जप अनुष्ठान लगवा देगा। उसने वैसा ही किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिये। (दानाध्यक्ष) मुझ को क्या देगा ? (अर्थी) जो तुम कहो। (दानाध्यक्ष) "अर्द्धमर्द्धं स्वाहा"। (महाराज) मैं नहीं समझा, तुमने क्या कहा ? (दानाध्यक्ष) जो तू आधा हमको दे और आधा तू ले तो तेरी जीविका लगादें। (स्वार्थी) जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। दानाध्यक्ष) अच्छा चल राजा के पास। (स्वार्थी) चलो।

खुशामदियों से सभा भरी थी, वहां दोनों पहुंचे, दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गोब्राह्मण है, इसकी कुछ जीविका कर दीजिये, यह आपका जप अनुष्ठान किया करेगा। (राजा) अच्छा जो आप कहें। (दानाध्यक्ष) दश रुपये मासिक होने चाहियें। (राजा) बहुत अच्छा। (दानाध्यक्ष) छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये। (राजा) अच्छा कोषाध्यक्ष! इसको छः महीने का जोड़कर देदो। (कोषाध्यक्ष) जो आज्ञा। जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोषाध्यक्ष बोले मुझको क्या देगा? (स्वार्थी) आप भी एक दो ले लीजिये। (कोषाध्यक्ष) छी २!! दश से कम हम नहीं लेंगे, नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे फिर आना। जबतक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उस को हमारे पास लेआओ, तबतक कोषाध्यक्षजी ने भी दश रुपये उड़ा लिये, पचास रुपये ले के चला। मार्ग में— (नौकर) कुछ मुझ को भी दे। (स्वार्थी) अच्छा भाई तू भी एक रुपया लेले। (नौकर) लाओ। जब दरवाज़े पर आया तब सिपाहियों ने रोका कौन! तुम क्या ले जाते हो? (नौकर) मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूँ। (सिपाही) यह कौन है? (नौकर) जपानुष्ठानी। (सिपाही) कुछ मिला? (नौकर) यही जाने, कहो भाई क्या मिला? (स्वार्थी) जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुंचे सो ही मिला। (सिपाही) हम को भी कुछ देता जा। (स्वार्थी) लो ॥) आठ आने। (सिपाही) लाओ।

जब तक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया। दूसरे नौकर से बोले कि देखो वह कहां गया? तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुंचे। (दानाध्यक्ष) लाओ, रुपये कहां हैं? (स्वार्थी) ये हैं अड़तालीस। (दानाध्यक्ष)

वाह वाह ! बारह रुपये कहां गये ? स्वार्थी ने जैसा हुआ था वैसा कह दिया। (दानाध्यक्ष) अच्छा तो चार मेरे गये और आठ तेरे। (स्वार्थी) अच्छा जैसी आप की इच्छा हो। तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि मैं घर हो आऊं कल आजाऊंगा। वह दूसरे दिन आया, उससे दानाध्यक्ष ने कहा कि तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर और ले यह धोती, अंगोछा, पंचपात्र, माला और गोमुखी। वह लेके गङ्गा पर गया, वहां स्नान कर माला लेके जप करने बैठा। विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है ऐसा वह मूर्ख समझ गया। "सरप माला खटक मणका मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं" जपने लगा।

तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लग गया है तो मेरा भी लग जायगा, चलो। वह गया, वैसा ही हुआ, चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा जैसा वह करता है वैसे करना। वह गया, वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़ने वाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा कि " तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं"। वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर करा लाया। चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह होता दीखे तब तक करना। वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझ के वहां जाकर जप करने को बैठ के जपने लगा, कि "ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक"। वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर कराके गङ्गा पर जाने लगा तब दानाध्यक्ष ने कहा कि जबतक निभे तबतक निर्वाह करना। वह भी इसको मन्त्र ही समझ के गङ्गा पर जाके जप करने को बैठ के उन तीनों का मन्त्र सुना तो एक कहता है—"मैं राजा

का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं"। दूसरा—"तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं"। तीसरा—"ऐसा निभेगा कबतक, ऐसा निभेगा कबतक, ऐसा निभेगा कबतक"। और चौथा जपने लगा कि—"जबतक निभे तबतक, जबतक निभे तबतक, जबतक निभे तबतक"।

ध्यान रक्खो कि सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्मान्धकार में गिर के कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते।

यहां किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो—'कोई एक विद्वान् धर्मात्मा राजा था। उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करादो। (दानाध्यक्ष) तुमने कौन २ शास्त्र पढ़ा और क्या २ काम करते हो? (अर्थी) मैं कुछ भी न पढ़ा और बीस वर्ष तक खेलता कूदता गाय, भैंस चराता खेतों में डोलता रहा और माता पिता के सामने आनन्द करता था, अब सब घर का बोझ पड़ गया है, आपके पास आया हूं कुछ करा दीजिये। (दानाध्यक्ष) नौकरी चाकरी करो तो करा देंगे। (अर्थी) मैं ब्राह्मण साधु जहां तहां बाज़ारों में उपदेश करनेवाला हूं, मुझ से ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है? (दानाध्यक्ष) तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु और विज्ञान के विना उपदेशक का काम कैसे कर सकता होगा? इसलिये नौकरी चाकरी करना हो तो कर नहीं तो चला जा। वह मूर्ख वहां से निराश हो चला कि यहां मेरी दाल न गलेगी, चलो राजा से कहें। जब राजा के पास जाके वैसे ही

कहा, तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्षजी ने कहा है वैसा करना हो तो कर नहीं तो चला जा। वह वहां से चला गया। इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिल के बातचीत की तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है, जाके राजा से मिलके कहा कि पण्डितजी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसा ही किया। तब राजा ने परीक्षा कर के जाना कि यह अति श्रेष्ठ विद्वान् है, ऐसा जान कर उनसे कहा कि आप को हज़ार रुपये मासिक मिलेगा, आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये, वैसा ही हुआ। धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं, जिनके हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है।

(प्र०) दानभक्ष और दानाध्यक्ष किसको कहते हैं ?

(उ०) जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय वह 'दानभक्ष', और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता है, वह 'दानाध्यक्ष' कहाता है।

(प्र०) राजा किसको कहते हैं ?

(उ०) जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराकर आनन्दित रहता और सब को सुख से युक्त करता है वह 'राजा' कहाता है।

(प्र०) प्रजा किसको कहते हैं ?

(उ०) जैसे पुत्रादि तन, मन, धन से अपने माता पितादि की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, वैसे प्रजा अनेक

प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके राज-सभा को कर देकर उनको प्रसन्न रक्खे, वह 'प्रजा' कहाती है। और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये, क्योंकि दोनों धार्मिक हो के एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं।

जैसे—

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा।
टकेसेर भाजी टकेसेर खाजा॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक २ करता था। उसकी नगरी का नाम "प्रकाशवती", राजा का नाम "धर्मपाल", व्यवस्था का नाम "यथायोग्य करनेहारी" था। वह तो मर गया पश्चात् उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे, और जो न माने वह यहां से निकल जाय। तब बड़े २ धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसे आपको भी वर्त्तना चाहिये।

(राजा) उनका काम उनके साथ गया, अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा।

(सभा) जो आप सभा का कहना न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जायगा।

(राजा) मेरा तो जब होगा तब होगा परन्तु तुम यहां से जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूंगा।

सभासदों ने कहा—"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" जिसका शीघ्र नाश होता है उसकी बुद्धि पहिले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये यहां अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये और महामूर्ख धूर्त्त खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई। राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम "गवर्गण्ड", नगरी का नाम "अन्धेर", और जो मेरे पिता और सभा करती थी उससे सब काम में उलटा ही करूंगा। जैसे मेरे पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य्य करते थे, वैसे ही उससे विपरीत हम लोग दिन में सोवें और रात में राज्यकार्य्य करेंगे। उनके सामने उनके राज्य में सब चीजें अपने २ भाव पर बिकती थीं, हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से लेके मट्टी पर्यन्त सब चीज़ एक टके सेर बिकेगी।

जब ऐसी प्रसिद्धि देशदेशान्तरों हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पांच २ सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में वहां दश (१०) टकों से दश (१०) सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे। गुरु ने कहा कि वहां गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये, क्योंकि किसी दिन खाया पिया सब निकल जावेगा किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह से साथ चला गया। वहां जा के अन्धेर नगरी के समीप बग़ीचे में निवास किया और खूब माल चाबते और कुश्ती किया करते थे। इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हज़ार रुपयों की थैली ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीन कर

भागे। उसने ज़ब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है ? उसने कहा कि अभी उचक्के मुझ से रुपयों को छीन कर ले जाते हैं। सिपाही धीरे २ चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है, उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ, चलो पूछ लो।

(सिपाही) हम नहीं पूछते चल राजा के पास। पकड़ कर राजा के पास लेजा के कहा है कि इसने हज़ार रुपयों की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आस पास वालों में से किसीने कुछ भी न पूछा न गछा, वह विचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो। शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है। उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभी में उस की अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों ? क्योंकि "समानव्यसनेषु मैत्री" जिनका स्वभाव एकसा होता है, उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है, जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पंडितों की पंडितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है, न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है।

गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है दुबला, अब क्या करना चाहिये ? तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इसको छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो उसको पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो। तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने

विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचीवाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले कि ठीक २ तो उसका चेला ही है। जब बहुतसे सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुझको महाराज का हुकम है कि शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो वह घबड़ा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया।

(सिपाही) अपराध तो नहीं किया परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है, हम क्या करें ?

(साधु) क्या दूसरा कोई नहीं है ?

(सिपाही) नहीं, बहुत बर २ मत कर चल महाराज का हुकम है।

तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिये ? (गुरु) हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गबर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो, तूने नहीं माना। अब हम क्या करें, जैसा हो वैसा भोग, देख अब सब खाया पीया निकल जावेगा।

(चेला) अब किसी प्रकार बचाओ तो यहां से दूसरे राज्य में चले जावें।

(गुरु) एक युक्ति है बचने की, सो करो तो सम्भव है कि शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटा, मैं तुझको हटाऊं; इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा।

(चेला) अच्छा तो चलिये। सब बातें दूसरे देश की भाषा में की, इससे सिपाही कुछ भी न समझे। सिपाहियों ने कहा चलो देर मत लगाओ नहीं तो बांध के ले जायंगे। साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं, तुम क्यों बांधो ?

(सिपाही) अच्छा तो चलो। जब शूली के पास पहुँचे, तब दोनों लंगोट बांध के मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे।

गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूंगा।

(चेला) चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े।

(गुरु) मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाय, हां मुझको मार कर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है चुप रह, समय चला जाता है।

ऐसा कह कर शूली पर चढ़ने लगा। तब चेले ने गुरु को पकड़कर धक्का देकर अलग किया, आप चढ़ने लगा, फिर गुरु ने वैसा ही किया। तब तो गवर्णण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो? तब दोनों साधु बोले कि हमसे इस बात को मत पूछो चढ़ने दो, क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है।

यह बात तो यहां ऐसे ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहां से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सब से बोला कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है। सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को! बैंगन का शाक चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा करली। सुनिये महाराज! जब बैंगन अच्छा है तभी तो परमेश्वर ने उसके उपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हंसे। तब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, डौढ़ी बन्द हुई। तब तक खुशामदी लोगों ने चौकी पहरेवालों से कहा कि जबतक प्रातःकाल हम न आवें तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना। उसने कहा कि अच्छा; आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई।

(खुशामदी) आज न हुई कल हो जावेगी। हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है, जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल कर अपने घर में पहुंचे वही अपना है। जब राजा को नशा और रंडीबाजी आदि खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे, तभी अपना गहरा होगा। खज़ाना अपना ही है और सब आपस में मिले रहो, फूटना न चाहिये। सबने कहा, हां जी हां यही ठीक है।

ये तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने गया तब गर्म मसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की, और जङ्गल की हाजत हुई, ले लोटा जाजरू में गया, रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि में कोई तीस दस्त हुए। रात्रिभर नींद न आई, बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया, वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे, ऊटपटांग ओषिधियां दीं, इनने और भी बिगाड़ किया, क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं ?

जब प्रातःकाल हुआ तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं ?

(दासी) आद रात भर जुलाब लगा, व्याकुल रहे।

(खुशामदी) क्या कोई रात्रि को महाराज के पास आया भी था ?

(दासी) दस बारह जने आये थे।

(खुशामदी) कौन २ आये थे, उनके नाम भी जानती हो ?

(दासी) हां, तीन के नाम जानती हूँ अन्य के नहीं।

तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न करदी हो, इसलिये आज हम में से एक दो पुरुषों को रात में भी ड्योढ़ी में अवश्य रहना चाहिये। सब ने कहा बहुत ठीक है। इतने में जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा, तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुना मुख बिगाड़ कर शोकाकृति मुख होकर ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई।

(गवर्गण्ड) वैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है परन्तु वादी करता है, उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ।

(खुशामदी) वाह २ जी वाह महाराज! आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा और न कोई इस समय है, क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की और रात्रि भर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज! जब वैंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान और भीतर का रंग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है।

(गवर्गण्ड) क्योंजी! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलंकार और इस समय उन्हीं की निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो? अब हम किसको सच्ची मानें?

(खुशामदी) घबरा के बोले कि धन्य धन्य धन्य है आपकी विशालबुद्धि को! क्योंकि कल सन्ध्या की बात अबतक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज! हमको साले बैंगन से क्या लेना देना था, हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें, सो सभी ठीक है।

(गवर्गण्ड) हां २ नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी को किसी बात में प्रत्युत्तर न दें किन्तु जी २ ही करते जायं।

(खुशामदी) ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें, रात दिन अपने सुख में मग्न रहें, नौकर चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें, बनिये बकाल के समान हिसाब किताब कभी न देखें, जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रक्खें, जिस दरख़्त को लगावें उसको कभी न काटें,

जिसको ग्रहण किया उसको कभी न छोड़ें चाहे कितना ही अपराध करे, क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया, और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं।

(गवर्गण्ड) क्योंजी! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे वा नहीं?

(खुशामदी) नहीं २ कदापि नहीं, न हुआ, न होगा और न है।

(गवर्गण्ड) सत्य है, क्या ईश्वर भी हम से अधिक उत्तम होगा?

(खुशामदी) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको किसने देखा है, आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं, क्योंकि आप की कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है।

इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायङ्काल मानकर सोने को सब गये। जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो?

(साधु) तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है। ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिलता है।

(गवर्गण्ड) इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा?

(साधु) हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा, हमको चढ़ने दो।

(गवर्गण्ड) नहीं २ जो फल होता हो सो कहो। सिपाहियो! इनको इधर पकड़ लाओ। पकड़ लाये।

(साधु) हमको क्यों नहीं चढ़ने देते? झगड़ा क्यों करते हो?

(गवर्गएड) जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे।

(साधु) दूसरे को कहने की तो बात नहीं है परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो। जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठ के आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।

(गवर्गएड) अहो ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूँ, तुमको न चढ़ने दूंगा।

ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये। साधु अपने आसन पर आए। चेले ने कहा कि महाराज चलिये यहां अब रहना न चाहिये। गुरु ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं, जो पाप की जड़ गवर्गएड था वह मर गया। अब धर्मराज्य होगा, क्या चिन्ता है, यहीं रहो। उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान् पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद् और प्रजा में सत्पुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गएड ने निकाल दिये थे वे सब आके सुनीतनामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उस मुरदे को शूली पर से उतार के जला दिया। और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड दे के कुछ क़ैद कर दिये और बहुतों को नौका में बिठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिक की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्यधर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। और पुनः प्रकाशवती नगरी नाम की व्यवस्था चलाने लगे और पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ, और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे।

जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है, तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करनेहारे राजा, धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और उनके समान अधर्मी, उपद्रवी, राजविद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होनेवाला होता है तब सुनीत के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राजप्रबन्ध में प्रीतियुक्त मङ्गलकारिणी प्रजा होती है। जहां अभाग्योदय वहां विपरीतबुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं और जहां सौभाग्योदय वहां परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं। वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं।

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक होके खाने, पीने, बोलने, सुनने, बैठने, उठने, लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता, और जो संपूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के लड़की, इष्ट मित्र, अड़ौसी पड़ौसी और स्वामी भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितो

व्यवहारभानुः समाप्तः॥

* ओ३म् *

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

वैदिक-पुस्तकालय की पुस्तकों की संक्षिप्त सूची

नाम पुस्तक	मूल्य
ऋग्वेद भाष्य ६ भाग	५२)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण ——	२०)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	३)
,, ,, केवल संस्कृत	॥।)
अष्टाध्यायी भाष्य पहिला खण्ड	३॥)
,, ,, दूसरा खण्ड	३॥)
पञ्चमहायज्ञविधि ——	=)॥
निरुक्त .... ——	॥।=)
संस्कृतवाक्यप्रबोध ——	≡)॥
व्यवहारभानु .. .. ——	≡)
भ्रमोच्छेदन —— ——	=)॥
अनुभ्रमोच्छेदन —— ——	-)
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर)	≡)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला नागरी	)॥।
,, मरहठी व अंग्रेज़ी	-), -)
गोकरुणानिधि —— ——	≡)
स्वामीनारायणमतखण्डन ——	।)
सत्यार्थप्रकाश ——	१॥)
आर्याभिविनय गुटका ——	≡)
आर्याभिविनय मोटे अक्षरों की	॥=)
संस्कारविधि ——	॥।)
विवाहपद्धति —— ——	॥)

नाम पुस्तक	मूल्य
शास्त्रार्थ फ़ीरोजाबाद ——	।=)
वेदविरुद्धमतखण्डन ——	।-)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण नागरी	-)॥
,, अंग्रेज़ी	-)॥
भ्रान्तिनिवारण —— ——	।-)
शास्त्रार्थ काशी —— ——	-)॥
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश नागरी	)॥
,, अंग्रेज़ी	)॥
ऋग्वेद संहिता बढ़िया जिल्द	४)
यजुर्वेद संहिता ,, ,,	२)
सामवेद संहिता सजिल्द	१॥)
अथर्ववेद संहिता बढ़िया जिल्द	३॥)
,, ,, सादा	३)
चारों वेदों की अनुक्रमणिका	२।)
ईशादिदशोपनिषद् मूल ——	॥।)
छांदोग्योपनिषद् भाष्य ——	४)
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ——	४)
यजुर्वेदभाषाभाष्य ——	५)
नित्यकर्मविधिः	)॥।
हवनमन्त्राः	)॥।
कममोरेशन वाल्युम बढ़िया ——	१०)
,, ,, घटिया ——	५)

नोटः—डाकमहसूल सब का मूल्य से अलग होगा।

पुस्तक मिलने का पता—

मैनेजर—वैदिक-पुस्तकालय, अजमेर.

* ओ३म् *

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि कृत

वेदभाष्य-परत्व प्रश्न-पुस्तक

का

श्री स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी महाराज की

ओर से प्रत्युत्तर.
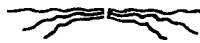
वैदिक-यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित हुआ ।

छठी वार,
१००० प्रति

दयानन्दजन्माब्द १२८
संवत् २००५ वि०

मूल्य ।-)

* सूचना *

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत समस्त पुस्तकें केवल वे ही प्रामाणिक हैं, जो कि वैदिक-यन्त्रालय अजमेर द्वारा मुद्रित होती हैं। यह यन्त्रालय श्री स्वामीजी के करकमलों द्वारा ही स्थापित किया हुआ है। महर्षिजी की उत्तराधिकारिणी श्रीमती परोपकारिणी सभा इसकी अध्यक्षा है। यहीं पर महर्षिजी के समस्त हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित रक्खे हुये हैं, जिनसे मिलान कर ग्रन्थों का मुद्रण होता है। अतः जो महानुभाव श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत पुस्तकें, उसी वास्तविक रूप में, जैसी कि महर्षिजी ने लिखी हैं. और जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्धन (अदल-बदल) नहीं किया गया है, खरीदना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिये कि वे वैदिक यन्त्रालय में छपी हुई पुस्तकें ही खरीदें। किसी अन्य संस्था द्वारा प्रकाशित या कहीं अन्यत्र मुद्रित हुई न खरीदें।

मैनेजर—
वैदिक-यन्त्रालय
अजमेर

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की कीहुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है, जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्य्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहां तहां लिख दिये हैं, कि देखनेवालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे, कि जिससे देशभर की हानि हो और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देख कर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देख कर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझसे खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता,

किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझको चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालनेवाले चतुर कम होंगे, किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़नेवाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान् सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रंथ के विषय में जो शंका होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करनेवालों को होंगी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े, और इतना न हुआ कि आंख खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान्. अर्थात् दीर्घदृष्टिवाले का काम है, नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं २ अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी, सो उन का उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत-

कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा वहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो वातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूँ। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्या-पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट होजाय कि ऐसी २ व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शङ्का तो मेरे वनाए ग्रन्थों ही के ठीक २ मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं. फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में वहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जव अच्छे २ पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जाननेवाले चल वसे; विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे; लोगों ने अपना २ छप्पर अपने २ हाथ से छाने की फिकर की; और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम २ विद्याओं को ऐसा हाथ से खो वैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट होगया; और तमाम अपने देश को भी धर कर डुवा दिया। वड़े शोक की वात यह है कि आंखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर, अपनी

अज्ञानता पर दुखी और लज्जावान् होने की जगह भी वरावर
हठ ही करते चले जाते हैं। इस का परिणाम न जाने क्या
होना है।

दूसरा कारण आर्यों के विगाड़ का यह भी है कि उन को
जैन लोगों ने वहुत कुछ दवाया और सत्यग्रन्थों का नाश किया।
फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष
करके दुःख दिया। और जव से अङ्गरेजों ने इस देश में राज
किया तो इन्होंने यह वात वहुत अच्छी की कि सव प्रकार की
विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समानदृष्टि से सुधारा।
परन्तु कुछ २ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों
का उत्साह भी कमती होता गया। और आजतक वेदों का
प्रचार और सत्य उपदेश का प्रवन्ध ठीक २ होता, तो किसी
को शङ्का भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित
मत-मतान्तर का न होता, जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र का
गुमान है। यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण
है। इसलिये उनकी भ्रान्ति निवारण विषय में कुछ लिखा
जाता है।

—इति—

दयानन्द सरस्वती.

* ओ३म् *

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर
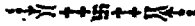
पंडित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पंडितों के साथ में अपनी राय दी है, तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्संदेह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

स्वामीजी—सम्मति देनेवालों की निर्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पंडितजी लिखते हैं कि 'स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं'। तो उन का यह कथन पूर्वापर विरोधी है, और इस में उन का हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारी विद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उनका काम मट्टी करदेती हैं।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूँ। जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है, तो उन को उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिखकर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया, और उन की विद्या की थाह मिलगई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे, कि जिस में वृथा कीर्त्ति देश में होजावे।

सो पंडितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उग्रड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालूम होता जावेगा, और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा, परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निर्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से शरीर मेरा बना रहा और कुशलता

से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य संपूर्ण होजावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा किं जिस के मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उनको यही उचित है कि वेदों को भी एकतरफ डालकर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं। और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो, नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिंदू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है, कि जिसके अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं, और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादिक की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं। सो कब हो सकता है? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही

नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्व मीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हज़ार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।

तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सब को मानता हूँ, उससे विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो २ संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क ३ में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि 'वेदों को भी एकतरफ धर दें केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें', तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश –हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा कीगई है, परन्तु मेरी समझ स तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम 'वेदोत्पत्ति प्रकरण' में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूँ कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति-प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इस का ठीक २ विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतः प्रमाण हैं कि उन में बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इस का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिन को स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मंत्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उनके भाष्य की परीक्षा करूंगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सब को प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने के कारण मैं मानता हूँ, और सब को अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण' में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडितजी का जो कथन है, सो केवल अप्रमाण है, और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी, परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मंत्रभाष्य ही अद्‌भुत नहीं है, किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हँसी के करानेवाले हैं। तथा कई अशुद्धियां जो उन के परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ २ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपचक्रे' शब्द को पाणिनी के 'गन्धनावक्षे०' सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्रे' में आत्मनेपद लाया गया है साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखण्डन' के साथ दे चुका हूं, और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' लाया गया, तो इस का कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उन को विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप, कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार और किया'। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को

बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक २ घट सकता है।

पं० महेश०—खैर ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी २ दोषों पर आता हूं। मंत्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखण्ड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो २ शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उन में अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पक्ष में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—'अग्निर्वै सर्वा देवताः ॥ ऐ० १। पं० १॥' जिसका यहां कुछ संबन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थितियज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीकासहित लिखता हूँ।

स्वामीजी—अब पंडितजी की ऐसी पकड़ से मालूम होगया कि उनको संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है, और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उनको ठीक २ अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन २ ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उनको ठीक २ विचारने से आयने के समान जान

पड़ता है कि 'अग्नि' शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—

१—'इन्द्रं मित्रं वरुण० ॥' २—'तदेवाग्निस्तदादित्य० ॥' ३—'अग्नि-होता कविः० ॥' ४—'ब्रह्म ह्यग्निः ॥' ५—'आत्मा वा अग्निः ॥'

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। 'अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ॥' और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार 'संवत्सरोऽग्निः ॥' इत्यादि प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से ठीक २ परमेश्वर का ग्रहण होता है।

तथा 'अग्निर्वै सर्वा देवताः ॥' इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहां उपास्य उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें मनु का प्रमाण दिया है। क्योंकि—

'यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतत्युच्यंत तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः ॥'

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो 'अग्रणीः' इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि 'इतात्' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि 'इण् गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। 'दग्धात्' इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा; परमेश्वर नहीं। तथा 'अक्तात्'

और 'नीतात्' इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि 'इण्' धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो 'अक्तात्, दग्धात्, नीतात्' ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक् २ धातुओं को नहीं गिनते। और 'अग्निर्वै सर्वा देवताः इति निर्वचनाय' इस वचन का अर्थ निरुक्त-कार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा का है, उसी को 'अग्नि' कहते हैं।

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाशयुक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है उसका, और जो विद्युत्-रूप गुणवाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करनेवाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है।

इसी प्रकार 'अग्निः पवित्रमुच्यते ॥' इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा 'प्रशासितारं०' जो सब को शिक्षा करनेवाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाश-स्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर 'एतमेके वदन्त्यग्निं०' विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक २ घटते हैं, परन्तु जो पण्डितजी के घर के निराले ग्रन्थ हैं, उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता, इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं, तो समझना चाहिये कि जैसे—निघण्टु के अ० २। खं० २२ में जो 'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान्, इनः' ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायँ, औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं? यह पंडितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के बिना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्व पक्ष में जो कुछ अवश्य था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क में विस्तारपूर्वक सिद्ध करदी है, वहां देख लेना।

पण्डितजी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे २ चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पंडितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अङ्गरेज़ी में देख लिये होंगे। उन से क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमंत्रों को न देखें समझें, तबतक वेदमंत्रों का अभिप्राय ठीक २ जानलेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पंडितजी का और कथन भी है, इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' इत्यादि पर जो पंडितजी ने लिखा है, सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेदमंत्रादि प्रमाणों को छोड़कर 'अग्निर्वै सर्वा०' इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पंडितजी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पंडितजी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि—सब कर्मकांड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्यन्त होमक्रिया में अग्निमंत्र प्रथम और विष्णुमंत्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा "अग्निर्देवता०" इस मंत्र में भी अग्नि का प्रथम और विष्णु का अन्त में ग्रहण किया है। सो ऐतरेय ब्राह्मण के पं० १, अ० २, कं० १० में लिखा है कि— 'त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव' इत्यादि।

तथा शतपथब्राह्मण में भी इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१ में देवता शब्द से किस २ को किस २ गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहां देख लेना। तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७ में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण करदी है। इसलिये 'अग्निर्वै०' इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण होजायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त होजावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है, किन्तु जिस २ हेतु से जिस २ पदार्थ का नाम देव धरा है, उस २ को वहां अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना।

और डाक्टर एम० साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पंडितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके, वह विना परीक्षा वा विचार के मानलेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं, कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय करलें, और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसा कि पंडितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका में भी 'यज्ञस्यान्ते' वचन में आदि में अग्नि-मंत्र और अन्त में विष्णुमंत्र का प्रयोग किया जाता है, फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मंत्र देवते गिने हैं। अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है कि] जिन २ द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य्य के आकर्षण से वायुद्वारा आकाश में चढ़जाते हैं। फिर मेघमंडल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाक़ी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, उन सभों को लाभ पहुँचाते हैं। इस अभिप्राय को पंडितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ़ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में

यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु उस में ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं—'यत्रोपास्यत्वेन०' अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है, वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं—'आत्मैव देवताः सर्वाः०' अर्थात् आत्मा सब देव है, और आत्मा ही में सब संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकती है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आंख से देखनेवाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उसका उत्तर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अङ्क ३ के 'देवता विधान प्रकरण' को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस २ गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है, उसको देख लेना चाहिये। क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध करदी है। परन्तु चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है। और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उनका दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पंडितजी लिखते हैं कि—'अग्नि शब्द का अर्थ

ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं'। इस का उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इस में पंडितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा, उस के उलटे ज्ञान होजाने का संभव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८६ के पृष्ठ से ६२ तक 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये।

'आत्मैव देवताः सर्वाः०' इस का अभिप्राय पंडितजी ने ठीक २ नहीं समझा है। क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन, पालन और विनाश करनेवाला है। तथा 'अग्निर्देवताः०' इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है। क्योंकि 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है, और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है। इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश०—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं। क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीचवालों को भाग पहुँचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेयब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उनके कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' इस में भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं। और जो 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः

परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ॥' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इस का अर्थ ठीक २ पंडितजी नहीं समझे हैं। इस का अभिप्राय यह है कि 'अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः' इस का भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं, वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् २ होजाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इस का नाम 'भाग' और 'बलिदान' है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखी है, जिसको पंडितजी ने न जान कर मेरे लेख पर विरुद्ध संमति दी है।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। 'स्वामीजी 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०' इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं, कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं। और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है। और यह अर्थ 'अग्रणीः' शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द 'अग्र+नी' से मिल कर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं, करता है। शतपथ ब्राह्मण जिसको स्वामीजी

मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही संमति देता है, सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर' और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिये उस में रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसे कि 'इतात्, अक्तात्, दग्धात् वा नीतात्' इन में 'इण्' धातु गत्यर्थक, 'अञ्जू' व्यक्ताद्यर्थ, 'दह' भस्मीकरणार्थ, 'णीञ्' प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि 'इण्' और 'अञ्जू' इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति, ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और 'अग्रणी' शब्द तथा 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽगं नयति।' इस के अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर और 'न क्नोपयाते न स्नेहयाते' इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है, मंत्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक २ लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है।

परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते, उन को उस के विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०' हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूढें, किन्तु मैं यह बताता हूं कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वामीजी—पण्डितजी का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं, सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उस का हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिये वहीं तक उनकी दौड़ है।

परन्तु मैं उन से मित्रभाव से कहता हूं कि वे वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी २ तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहणविषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं? जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है

उस में का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये कि—तद्यदेनं मुखादजनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैवमेतमाग्नमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥' इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है। और—'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ॥' यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इस से यहां भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

"प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमाग्निमजनयत्तस्मात्परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यथाद् ब्रह्मविद्भवतीति ॥'

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक २ नहीं जानते। और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पंडितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तरलेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो २ शतपथ के प्रमाण मैंने वहां २ लिखे हैं, उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उनको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—'अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥' पृथिवी का अग्नि/ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने 'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' इस में अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है, इस में पंडितजी से मैं पूछता हूँ कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते, तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता।

और उनको विचारना चाहिये कि 'पृथिवी स्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्।' इस वचन के अर्थ पर उनका अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है, जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है। तथा कार्य्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर उन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में धरा हुआ।

तथा पृथिवी—स्थान शब्द के होने से अग्निशब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तरोऽयमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः ॥"

यह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है, कि

जिसमें पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहां कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—"स त आत्माऽन्तर्य्यांम्यमृतः ॥" अर्थात् गौतमऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गोतमजी! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है; जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है।

इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं।

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उसका कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं—"यत्कामऋषिर्यस्यां०" जिस मंत्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है, वही उस मंत्र का देवता है। "महाभाग्याद्देवतायाः०" अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उसमें बहुतसी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है, उसके सिवाय और २ देव उसके अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न २ मंत्रों के पृथक् २ देवता विभाग करता है। और इस का प्रमाण स्वामीजी ने माना है। देखो पृष्ठ १ पं० २ तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की।

परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मंत्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद्

में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं। जैसे:—
"निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तमनसीत्यथोत्तरप्रश्नमनुब्रूहीति० इत्यादि ॥४।५।६॥

स्वामीजी—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति ।।" इसका उत्तर भूमिका अङ्क ३ के देवता विषय में देख लेना। वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है। अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न २ देवता मानता है, सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मन्त्र का अग्निर्देवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहां केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है, वहां देखलेना, कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किसलिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगतरूप समझना, यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध सनातन निर्विकार अज अनादिस्वरूप जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन पालन और विनाश करनेवाला है। और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले। इस में पंडितजी

ने जो मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण धरा है सो भी विना अर्थजाने हुए लिखा है। क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा:—

"यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह। यः सुयुक्तोजस्रं चिन्तयति तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यत ब्रह्म स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यपद्यत्ययमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वानेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते॥"

जो पंडितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक २ समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं, ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहां भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है, सो देखलेना।

उसी शतपथ में पांचवें ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—"अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽस्ति द्रष्टेत्यादि।" व्याप्यव्यापकसंबन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—

"ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्॥" इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनमात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है', तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं। इसी प्रकार जैसे कार्य्य जगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसे ब्रह्म नहीं। किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि

से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

"यावास्याग्यास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निन्हयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्य्युपरि लोकेषु चात्यथ कृत्स्नत्य एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य॥"

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्चा कर अपने हृद्य के सब दोषों को अलग करता इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ, अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है।

इस के आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के आरंभ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी "त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः" इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पंडितजी प्रोफेसर ग्रिफिथ टानी साहब के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमा में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देनेवाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पं० महेश०—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः॥" जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् २ होने से उन को कई नामों से बोलते हैं।

"अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाःस्युरित्येके चेतनावद्वद्धि स्तुतये। भवन्ति तथाविधानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ॥"

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्ता वनस्पति आदि।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, जिन के गुणों की व्याख्या करदी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है तथा उन को यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥"

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इसका अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है, देखो 'अग्निमीड़' इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज़ नहीं समझा है। यह ब्रा० और नि० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं। श्रौतसूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है, यद्यपि स्वामीजी ने उस का कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूँ—सू० २६। कण्डिका १। अ० १ तथा सू० ७। कं० १२। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि 'अग्निमीड़े०' यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इस के आगे पण्डितजी "तिस्र एव देवता०" इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इस का भी अर्थ ठीक २ नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं। अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक देखने से ठीक २ उत्तर मिल जायगा।

और इस के आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस २ पदार्थ में जो २ गुण होते हैं, उन का यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में "एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथगिव स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि ॥" इस पंक्ति का अर्थ पंडितजी ने न विचारा होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते। क्योंकि देखो—

"तासां महाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई २ नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक् २ गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक स्वयं प्रकाश सत्य ज्ञान-प्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि

अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

"तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ॥"

इस का अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन, साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है— एक समवायसम्बन्ध, दूसरा संयोगसम्बन्ध। समवाय नित्य गुण गुणी आदि में होता है, और संयोगसम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना, कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुँचाना है, तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुँचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त करदेना परमेश्वर का काम है।

"अग्निः पृथिवीस्थानः०" इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और "अग्निमीळे" इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है, परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणा कर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजा कर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः०" इस मंत्र की व्याख्या में निरुक्तकार

का स्पष्ट लेख है कि—

"स न मन्येताममेवाग्निाग्त्येिष्यत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ॥"

इस का अर्थ यह है कि—वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सबका प्रकाशक है। तथा जो परमेश्वर का अग्निशब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्द-स्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते वा नहीं। तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं।

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उस का भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होम क्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक् २ लिखे हैं, इसलिये वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिस का काम है, उसको वही करे, यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहां भी पंडितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहां मन्त्र ही देवता हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वही मंत्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से इस सूत्र का लिखना पंडितजी को योग्य नहीं था, क्योंकि वहां तो केवल

क्रिया यज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—'अग्निमीडे' इस मंत्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये। परन्तु कई मंत्रों का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है, सो उन मंत्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मंत्र 'इन्द्रं मित्रम्०' वे उस को इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मंत्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बनाते हैं। खैर, कुछ ही हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और २ देवताओं के नाम से जाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये। 'तदेवाग्नि०' शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। प्र० १।' इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था है और रहेगा, जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा नेत्रों से सूर्य कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मंत्र का प्रमाण देते हैं, जैसे—'तदेवाग्नि०' अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे

ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते, सिवाय इसके जो 'तद्देवाग्नि०' पद भेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कहदे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

'अग्निर्होता कविः क्रतुः०' स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित, परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामीजी भी जब मंत्र को शास्त्र-सम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को अग्नि ईश्वर का नाम है नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेद मंत्रों के अनेक प्रमाण मंत्रभाष्य के आरम्भ में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मंत्रों का अर्थ मालूम नहीं। और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं। उन का यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पंडितजी के लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि 'इन्द्रं मित्रं०' इस मंत्र में 'उसको' शब्द किस के लिये आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है इत्यादि। सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान

वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो बार है। एक—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः······। ···अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥"

इस का अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्।'

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमंत्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'

इस का यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा 'इममेवाग्नि०' इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है।

इस मंत्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी

भ्रान्ति में गिर पड़ते, और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार २ यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं; वैसे ही 'तदेवाग्नि०' जो इस में तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक २ नहीं जाना। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एक रस रहता है, अर्थात् जब २ जगत् हुआ था, है और होगा तब २ वह—

'तदक्षरे परमे व्योमन्।'

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृतं खं च दिवं महीं च०' इत्यादि।

जिसने आकाश सूर्य्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम्।'

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयमस्ति।'

जिस से सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सब से परे एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषणयुक्त है।

'तदेवावर्त्तत्तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।'

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्वमय है, वही सत्य वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है।

और 'तदेवाग्नि०' अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिर इत्यादि ।'

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥'

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता, अर्थात् कोई उस को आंख से नहीं देख सकता किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पंडितजी ने नाम लिखा है, उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उन की समझ में ठीक २ नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिस से घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है।

यह भ्रान्ति उन को वेदादि शास्त्रों के ठीक २ न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो 'अद्वैत' शब्द परमेश्वर का

विशेषण है, कि जैसे एक २ मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ६० की पंक्ति २० में मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः ॥' इत्यादि में देख लेना। तथा—

'पुरुष एवेदᳬ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥"

इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अङ्क ५ के ११८ पृष्ठ में 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ के १३४ पृष्ठ की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा। और—'अग्निर्होता कविः क्रतुः० ॥'

इस के अर्थ विषय में जो पंडितजी को शङ्का हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में देख लेना—क्रतुः सब जगत् का करने वाला सत्यश्चित्रश्रवस्तमः—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आंख से मनुष्य देखता है, तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक २ विद्या ही नहीं तो उसको सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

तथा निघं० अ० ३ खं० १५ में 'मेधावी' का नाम कवि लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४० । मं० ८०—'संपर्यगाच्छुक्रं० ।' इस

मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक २ सिद्ध करते हैं। तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः' जो कि आगे की संस्कृत में आता है। जैसे—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति० ॥' इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुँचाता है। शत० कां० १। अ० ४। ब्रा० ४। २ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं।

'आत्मा वा अग्निः।' यह शत० कां० ७। अ० २। ब्रा० २। कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

'यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीये राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः आत्मानं ततः प्राणं मध्यतो दधाति।'

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।' यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है, तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिये सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि

का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं, और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ में ईशान शंभु, भव, रुद्र आदि ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है, इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय 'अग्निरिवाग्निना पिहितः' ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो २ प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उन को तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्नि' इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति।'

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं, क्योंकि वहां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह नियम कहीं नहीं लिखा—

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उवा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति।'

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे। क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर! आप महान्—सब से बड़े हैं और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा सब प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं, और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिये भी आपका नाम भारत है। इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं।

और जो 'आत्मा वा अग्नि' इस में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता। यही मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे और—'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः॥'

इसका यह अर्थ है कि—'(अयम्) यह होम करनेवाला परमेश्वर का उपासक सबके बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है। क्योंकि सबके प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं। इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है। परन्तु—'स उ प्राणस्य प्राणः॥' इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है। इस से यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है।

और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं, किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है। क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं। और यज्ञादि कर्मों में

परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् वल वढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है, सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है। और जहां २ से प्रमाण लिखे हैं, वहां २ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है, इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका।

और—'प्राणो अग्निः परमात्मेति।' यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और 'सब वस्तु ब्रह्म है' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जान कर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि 'पञ्चवायु' इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो 'पञ्चवायुः' परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं।

'य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एक वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्यो ऽभयं दत्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीराद्-दुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवं विदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।'

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिस को सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं। तथा सब प्राणियों को अभयदान दे के विषयों में इन्द्रियों को रोक के एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं, वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है, और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित, और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उस का पूजन करता है; वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से—'उपलमेतैनामिति ।' मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी जानता और मानता हूँ, परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा, यह बड़ा आश्चर्य है।

पं० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते' पवित्र शब्द की खराबी

लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूँ कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उन की चतुराई नहीं समझी जा सकता। और धरा तो धरा करो परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई २ उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है—

'सर्वमात्मनि संपश्यत्सच्चासच्च समाहितः। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवास्थितम्। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।'

अब देखना चाहिये कि ये सब मंत्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—'अग्निः पवित्रमुच्यते' इसका उत्तर हम देचुके और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पंडितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूं। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु

पंडितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा। 'प्रशासितारं सर्वेषां० ।' इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति 'एतमेके वदन्त्यग्निम्० ।' इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—'अपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।' इस वचन से भी ठीक २ निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है। उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी परिडतजी ने नहीं समझा यह बड़े आश्चर्य्य की बात है। और—

'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ १ ॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ २ ॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ ३ ॥

इन श्लोकों से पंडितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पंडितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। 'समाहितः' इस पद को अशुद्ध करके 'समाहितम्' यह पंडितजी ने लिखा है, 'जो समाधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्व व्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्म युक्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं का रचने वाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है,

वही सब मनुष्यों का उपास्य देव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ २ ॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३॥

अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर विना समझे जो पंडितजी ने तर्क लिखे हैं, वे सब मिथ्या हैं, 'क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव तू इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूँ। तिस पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूं जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध, अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के वताने का ऋणी है। परन्तु उनकी ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

अब 'अग्निमीड़े०' पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता, और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं जिस से आगे 'क्त' है, इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं—

'पुरोहितः पुर एनन्दधाति० ।'

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं, स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र सिद्ध करदें, परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उस के प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहां देखने से ठीक २ मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पंडितजी 'पुरोहित' शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं, किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं, यह उन का कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत, अर्थात् किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

'पुरोहित' शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

'आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ॥ अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू० ७१ ॥'

इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेदद्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह परमेश्वर

का आदि कर्म है। इस के न होने से सत्यासत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना, और परमेश्वर के न होने से उस की भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने भी 'पुरोहित' शब्द में 'डुधाञ्' धातु से कर्त्ता में 'क्त' प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहां अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

'विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः ॥ ऋ० मं० १। सू० ५५। मं० ३॥'
यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पंडितजी—'पद्ध वापिः०' इस मन्त्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मंत्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका भी ठीक २ अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने 'शन्तनु' शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है, जो 'शन्तनु' शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उस की खबर भी नहीं है—

'शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ॥'

जिस का यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर 'शन्तनु' कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी 'शन्तनु' है। इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब 'यज्ञ' शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है, सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यंत्रालय का दोष है। 'यज्ञस्य' यह शैषिकी षष्ठी है, पुरोहित, देव, ऋत्विक, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं, और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है, वैसा समझ लेना चाहिये। और निरुक्त-कार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं। क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गो' शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता। क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है। और जो 'देव' शब्द के विषय में पंडितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहां से वा कैसे लिये हैं, इस का उत्तर यह है कि 'दिवु' का धात्वर्थ विजिगीषा भी है। और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं, उन का जीतनेवाला वही परमेश्वर है। क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरो हितो व्याख्यातो यज्ञश्च ॥' इस के अर्थ में पंडितजी की बहुत भूल है, क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या करदी है। और पंडितजी कहते हैं कि निरुक्तकार के तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है, सो झूंठा है। क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं। और जो निघण्टु के अ० ३। खं० १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे

हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं। और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता, यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है। क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है। क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है, इस के साथ उनको मिला कर देखो।

और पंडितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि 'देव' शब्द के अर्थ देनेवाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्द विषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ को ५ पंक्ति से देखलेना चाहिये। निरुक्तकार—'यो देवः सा देवता०' इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं, उन को पंडितजी ठीक २ नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इसमें पंडितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों क कई २ अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं, परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य', 'देवं' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूँ। इसलिये विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विजं' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब वस्तुओं में पूजा की जाय, परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ानेवाले अर्थात् भेट करने वाले के हैं और न कि जिस को भेट चढ़ाई जाय. यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिस का स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी 'ऋत्विज' शब्द पर लेख करते हैं, सो भी ठीक २ नहीं वे समझे।

'कृत्ल्युटो बहुलम् ॥' इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे,

क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जोकि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिये इस वेदभाष्य में जो इस का अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है, परन्तु पंडितजी 'ऋत्विज' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामीजी 'होतारं' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं, उन में से एक 'आधातारं' अर्थात् ग्रहण करनेवाले के हैं, यह भिन्न पद है कि जिन से यह अर्थ लिये जाते हैं। 'होतारं' जो 'हु' से बनता है, जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं, और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं। जैसे— 'हुदानादनयोरादाने चेत्यके।' 'हु' धातु के अर्थ दान अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना, अदन का अर्थ ग्रहण वा आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—

'अत्ता चराचरग्रहणात्।'

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है। और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है, उस के अर्थ आदान के नहीं हो सकते, किन्तु उस के अर्थ कुछ और ही हैं, नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्येके' कैसे बन सकता। किसी के मत में ही धातु का अर्थ भी आदान होता है, इस से मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध करसकें

कि अदन आदान के अर्थ में आता है, तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता। तथा पंडितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्तसूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है, यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने 'हु' धातु से अर्थ लेने की अनेक युक्तियां घूम २ कीं, परन्तु न मालूम स्वामीजी 'होतार' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों हो गये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिस को पढ़नेवाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब 'होता' शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूँ। पंडितजी को यह शङ्का हुई कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा, परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शङ्का न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का भक्षणकारक होगा। इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने। क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हां, धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो

कर रहा है। इसलिये इस शङ्का का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता।

और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है, सो भी पंडितजी की समझ उलटी है। क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो, तब यह दोष 'देवदत्तो मांजनं जुहोत्यत्तात्पर्यः' ऐसे वाक्य में 'अदन' शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है। 'आदाने चेत्यक' इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातु-पाठकार के मत में 'हु' धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है। और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे। परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये आदान अर्थ का पृथक ग्रहण किया है। इससे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक २ मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की कुछ भी नहीं। क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। 'आदान' शब्द के अर्थ के लिये नहीं। क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के विना 'अत्ता' शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पण्डितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुतसे यत्न करते हैं,

परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है।

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेश० न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों को वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमें हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हां मैं कह सकता हूँ कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाः॥

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिस के उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला २ फिरे, वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं। क्या इस पत्र को जो २ बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पण्डिताई की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूँ कि ग्रीफिथ साहब आदि अंग्रेज पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें, तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक २ नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे। मैं चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक २ विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि—'विद्यादम्भः क्षणस्थायी।' सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात्॥

संवत् १९३४, कार्तिक शुक्ल २॥

वैदिक-पुस्तकालय की पुस्तकों की संक्षिप्त सूची

नाम पुस्तक	मूल्य
ऋग्वेद भाष्य ६ भाग	५२)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	२०)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	२॥)
,, ,, केवल संस्कृत	॥।)
अष्टाध्यायी भाष्य पहिला खण्ड	३॥)
,, ,, दूसरा खण्ड	३॥)
पञ्चमहायज्ञविधि	=)॥
निरुक्त	॥।=)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	≡)॥
व्यवहारभानु	=)
भ्रमोच्छेदन	=)॥
अनुभ्रमोच्छेदन	-)
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर)	≡)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला नागरी	)॥।
,, मरहठी व अंग्रेज़ी	-), -)
गोकरुणानिधि	-)॥
स्वामीनारायणमतखण्डन	।)
सत्यार्थप्रकाश	१॥)
आर्याभिविनय गुटका	≡)
आर्याभिविनय मोटे अक्षरों की	॥=)
संस्कारविधि	॥-)
विवाहपद्धति	॥)

नाम पुस्तक	मूल्य
शास्त्रार्थ फ़ीरोजाबाद	।=)
वेदविरुद्धमतखण्डन	।-)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण नागरी	-)॥
,, अंग्रेज़ी	-)॥
भ्रान्तिनिवारण	।-)
शास्त्रार्थ काशी	-)॥
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश नागरी	)॥
,, अंग्रेज़ी	)॥
ऋग्वेद संहिता बढ़िया जिल्द	४)
यजुर्वेद संहिता ,, ,,	२)
सामवेद संहिता सजिल्द	१॥)
अथर्ववेद संहिता बढ़िया जिल्द	३॥)
,, ,, सादा	२)
चारों वेदों की अनुक्रमणिका	२।)
ईशादिदशोपनिषद् मूल	॥।)
छांदोग्योपनिषद् भाष्य	४)
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	४)
यजुर्वेदभाषाभाष्य	५)
नित्यकर्मविधिः	)॥।
हवनमन्त्राः	)॥।
कम्मोरेशन वाल्युम बढ़िया	१०)
,, ,, घटिया	५)

नोट:—डाकमहसूल सब का मूल्य से अलग होगा।

पुस्तक मिलने का पता—

मैनेजर—वैदिक-पुस्तकालय, अजमेर.

भ्रमोच्छेदन

———:o:———

जो

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के
'निवेदन' के उत्तर में

श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने

सज्जन आर्य्यों के हितार्थ

निर्माण किया है।

इस पुस्तक के छापने का अधिकार किसी को नहीं है,
क्योंकि इसकी रजिस्ट्री कराई गई है।

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित।

अष्टमवार १००० } संवत् २००५ { मूल्य =)॥

* सूचना *

१—महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत समस्त पुस्तकें केवल वे ही प्रामाणिक हैं, जो कि वैदिक-यन्त्रालय अजमेर द्वारा मुद्रित होती हैं। यह यन्त्रालय श्री स्वामीजी के करकमलों द्वारा ही स्थापित किया हुआ है। महर्षिजी की उत्तराधिकारिणी श्रीमती परोपकारिणी सभा इसकी अध्यक्षा है। यहीं पर महर्षिजी के समस्त हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित रक्खे हुये हैं, जिनसे मिलान कर ग्रन्थों का मुद्रण होता है। अतः जो महानुभाव श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत पुस्तकें, उसी वास्तविक रूप में, जैसी कि महर्षिजी ने लिखी हैं, और जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्धन (अदल-बदल) नहीं किया गया है, खरीदना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिये कि वे वैदिक यन्त्रालय में छपी हुई पुस्तकें ही खरीदें। किसी अन्य संस्था द्वारा प्रकाशित या कहीं अन्यत्र मुद्रित हुई न खरीदें।

२—इस पुस्तक में जहां तहां ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के पृष्ठों के हवाले दिये हैं, वह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पंचम संस्करण से मिलान करें।

मैनेजर—
वैदिक-यन्त्रालय
अजमेर

* ओ३म् *

भ्रमोच्छेदन

(अविद्वानों का)*

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ?

देखना चाहिये कि जैसा उनको मैं सुनता हूं, वैसे ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं सो सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे॥

वार काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ* कि कुछ वार्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग़ में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल ऑलकाट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेट्स्की को मिलने के लिये आनन्दबाग़ में आ उनने मुझ से मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब को सूचना कराई और जबतक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुईं, परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया†। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया'।

यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े संदेह में पड़ने का निमित्त

---

* एक वार सय्यद अहमदख़ां सदरसदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था, पर वार्तालाप नहीं हुआ था॥

† राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी॥

है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है ‡ ? जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुन के यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं *, किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये ? जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेज के प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलने समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवा चार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना, और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित करना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात

‡ कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें विना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, न वह विना पढ़े समझ सकता है॥

* हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं॥

नहीं है †। भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ?

ऐसे कपट छल के व्यवहार न करने में मनुजी की साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १ ॥

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे. और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त ह वे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से * (पृच्छति , पूछता है,(च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे । जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है । (वा) अथवा (विद्वेषम्)

† जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते । जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी उनसे पत्रव्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा ॥

* जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे वह 'छली' कहाता है ॥

अत्यन्त विरोध को (अधि गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं ॥ १ ॥

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये †, तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं? हां मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म से, उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं, परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं, जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़ कर नहीं पूछता और न कहता है, तबतक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां, जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं, अर्थात् जब २ अयोग्यपुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूँ, तब २ प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूँ। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछ के निस्सन्देह होकर आनन्दित होजाता है *।

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में 'निवेदनपत्र' छपवा के प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहां २ (रा०) चिह्न आवे, वहां २ राजा शिवप्रसादजी का, और जहां २ (स्वा०) आवे, वहां २ मेरा लेख जानना चाहिये ॥

---

† जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता ॥

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता, तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है ॥

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ६ से ८८ तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे २ वचन जो अपने अनुकूल पाय ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध को जो प्रतिकूल पाये परित्याग *। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे, उनके अर्थ पलट दिये, मनमाने लगा लिये ×, परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा? क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है?

---

* देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उसको मेरे अनुकूल, और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है, उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं। क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है॥

× जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती। क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है, उस २ को वे उलटा समझते हैं और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है। और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है, सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं, यह उनकी समझ का दोष है॥

स्वा०—क्या मेरी बात ही संदेह की बढ़ानेहारी है, उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है? और यह भी सच है कि जब २ अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रंथ को देखने लगता है, तब २ काच के मंदिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस २ सुख के बदले दुःख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो, उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहां उस २ भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं *।

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रंथों का ग्रंथों ही के साथ सम्बन्ध होता है। जब ऐसा है, तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है + कि आधा छोड़ना और आधा लिखना

* चेत करना चाहिये यह उल्टी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना॥

+ ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है, और न हाथ से लिखा जा सकता है॥

किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी संपूर्ण का लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असंभव है। ऐसी बात कोई बालवुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है, अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते है, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जो कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः" इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली * तो ऐसी है—

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥"

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायँगे, क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो, किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं +।

---

* जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता॥

+ मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो, वहां उतना ही लिखना॥

जो ऐसा न समझते तो—"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥" इस वाक्यसमुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्य का लक्षण सुना, और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो 'एवं वा०' इससे ले के 'निःश्वसितानि' इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते * ।

देखिये, यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है—'एकतिङ् वाक्यम्।' जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का संबन्ध हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति' एक, और 'पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति' दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित हैं, और आकांक्षित वाक्य 'त्वं विद्धि' इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो, उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो,

* जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती ॥

उनको प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है + ? इसीलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है, सो बहुत ठीक है कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसापर्य्यन्त विद्या-पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है * । इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ।

क्या अब जिसको थोड़ीसी भी बुद्धि होगी, वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ ज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है ? यहां 'चोर कोटपाल को दण्डे' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः" के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलनेवाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है ?

+ राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हां 'अन्धानां मध्ये काणो राजा' यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे ॥

* ईश्वरोक्त चार वेद स्वतः प्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्य्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता, कि जिसका परतःप्रमाण ग्रहण न हो सके। क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं. और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है इसलिये जो राजाजी ने नोट में "स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा" लिखा है, सो भ्रम से ही है ॥

इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित करता हूँ कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्यजन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्धसागर रूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें, और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भाग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये—

रा०—श्रीमत्पण्डितवर * बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं, परमपूजनीय जगद्गुरु † श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुँच, जो पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे ‡, और पिछले उत्तर पर जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार मे विचारशून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों? क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान्

---

* काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं॥

† जगत् में जो २ उनके शिष्यवर्ग में हैं, उन २ के परमपूजनीय और गुरु होंगे, सब के क्योंकर हो सकते हैं?

‡ जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते?

होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें, और इससे 'सजातीय प्रवाहपतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूँ कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें *। भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादि विद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये उनको लिख के यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूंगा।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादि-शास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते ‡। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीन

* जो कोई विना विचारे कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते॥

‡ यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है॥

टीकानुसार दश उपनिषद् शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से ‡ विस्मृत होगये होंगे, तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत पदवाक्य प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं। परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

अस्तु, जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर का प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें, और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे, जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये वे तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर मुंशी बख़्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मुंशीजी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं, इस निश्चय के लिये पत्रद्वारा आप से संमतिपत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेंगे, और मेरा लेखभी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्र-सहित उनके पास भेज दिया करेंगे।

‡ सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं। इससे सबको योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें॥

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें, और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते?

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों, तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते *? जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आये पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे, तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे?

* उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त हो के निन्दा स्तुति हानि लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें॥

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इसपर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुँच कर पत्र दिखा सम्मति लिखा पुस्तक छपाकर इधर उधर भेजने से भी न बच सके, तो आपके जाट, खाट और कोल्हू लौट कर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बाल-शास्त्रीजी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये। और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक अर्थात् वारिस्टर करना भी मत छोड़िय।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें, किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे?

अब मैं सूचना करता हूँ कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख उस पर विश्वास कर इस 'क्वास्ताः क्व निपतिताः' महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है, और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसा मैंने नहीं कहा था, किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

"रा०—आपका मत क्या है?

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं?

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते।

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता, किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वरप्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता। क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही हैं।"

यह मेरे पत्र का लेख उनके भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्यमान ही था, परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है, जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते, तो क्या इसमें राजाजी का दोष नहीं है ?

रा०—वादी कहता है * जो संहिता ईश्वरप्रणीत है, तो ब्राह्मण भी ईश्वरप्रणीत हैं।

* क्या विद्या और सुशिक्षा रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ?

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं, तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये †।

स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसा ही प्रतिध्वनि सुनने में आता है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों का निकाले, विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्धपक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुना जाता है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है?

---

† जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता, क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता॥

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत:प्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वत:प्रमाण हैं, आपका संहिता परत:प्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है। जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वत:प्रकाशमान हैं, तो घटपटादि भी स्वत:प्रकाशमान हैं।

रा०—आप ने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के नव ९ पृष्ठ से लेके ८८ अट्ठासी के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञाविचार विषयों को देख लीजिये, निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रांति में पड़गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान कर, वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़ कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वत:प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परत:प्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के इसी पृष्ठ में आगे लिखे हैं। क्या बाचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंख अन्धकारावृत होगये थे?

परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों का नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय हैं।

रा०—'तस्माद्यज्ञात्'''अजायत' अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ १० पङ्क्ति २६ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते, तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' यहां से लेके 'ग्राम्याश्च ये' यहांतक जो छः मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्त-कारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ६ पंक्ति ११—"(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।"

यह 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सबका पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं। इत्यादि से यहां वेदों

ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है, वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये 'यज्ञो वै विष्णुः' यह वचन लिखा है। और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी क अर्थ कभी न लिखता।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ सम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते, तो यथावत् क्यों न जान लेते*।

[रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ८१ पंक्ति ६ में लिखते हैं कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं। और फिर पृष्ठ ५३ में लिखते हैं चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आप के निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे] ×॥

---

* प्रसिद्ध है कि जो कांदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते॥

× वे तो आप्त विद्वान् थे; परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था॥

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी तक में लिख रक्खा है, जो चाहे सो देख लेवे। और जो वहां 'एवं तनानक्तत्वात्' इस वचन का यही अभिप्राय है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है, किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता, तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता + ? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ? जो कभी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो ? और जो उनको भी आप्त मानते हो, तो मन्त्र-संहिता ही वेद है' उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते ? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते। और जो सैकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर

+ हज़ारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है, मूर्ख दो का भी एकमत होना कठिन है ॥

एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

रा०—आप लिखते हैं कि—ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं, सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं। और संहिता में शतपथब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है, कि जहां २ ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहां २ जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है। और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सक्ती, वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो वेदादि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदों में 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असंभव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये

सादृश्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते।

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक 'ईशावास्य' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है, और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा 'ब्राह्मणानीतिहासान्०' इस पूर्वोक्त वचन से है। इसमें 'एवं वा अरे०' इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते *।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं। यदि आप इतना और मानलें कि संपूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण

* विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं ॥

और प्रतिकूल होने से अप्रमाण, और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतः-प्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो तो अप्रमाण, और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर धर के पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं— 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।' इसका अर्थ सीधा २ यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटांग लेख है, उस को कौन शुद्ध कर सकता है। क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पंक्ति ३ में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे २ अर्थ को टेढ़ा २ कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म

का उपदेश मैं तुझ से करता हूँ. तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्र भाग में परा विद्या क्यों नहीं ?

देखो—'तमीशानं' इत्यादि मन्त्र, ऋग्वेद। 'परीत्य भूतानि' इत्यादि और 'ईशावास्य' इत्यारम्भ 'ओं ख ब्रह्म' पर्यन्त मन्त्रयुक्त ४० चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र, यजुर्वेद। 'दधन्ववायदीमनुवोचद्ब्रह्मेति वेरुत्तत्।' इत्यादि मन्त्र सामवेद। 'महद्यक्षं' इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हज़ारह मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २२ से लेके २६ पंक्ति की समाप्ति तक लिख रक्खा है। जिसको देखना हो देख लेवे।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहां से आती ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः ?' क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था ? क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं ? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है ? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने 'यथा तदक्षरमधिगम्यते सा पराविद्यास्ति' इस वाक्य से कौन

से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है ? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है ? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसका कोई विपरीत भी कर सकता है ? कभी नहीं ।

इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़ कर उन्हों में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे समझे संम्मति करदी है, वैसे साहस न करना चाहिये । किन्तु उस २ विद्या में योग्य हो के किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये ।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो ?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न, लिखाते, तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता । क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को । क्योंकि राजाजी तो विच २ संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं । उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा वधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का

वीणा आदि बजाना, और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्र०—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे करते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है?

उ०—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़ कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे। न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें। और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें *।

प्र०—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे, तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा?

उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सबको विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता. और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता?

प्र०—वे हैं बहुत और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे?

---

* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें॥

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं, क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायंगे, और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र-द्वारा इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूं। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ, वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा?

उ०—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें, तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है। अर्थात् एक महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है। और दूर २ रह कर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है। परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा?

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सब को परमानन्द होना, और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें, तो छुड़ाने का क्या उपाय है?

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उस के स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के कागज़ पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने २ पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना २ हठ छोड़ देवें, क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं, तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है?

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुँचूंगा कि जिसमें उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है?

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है?

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे, वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो इनका यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है, तो शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते। अथवा जो और कुछ कारण हो तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा। हां, सन्मुख आ के तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं। और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां, ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यास-कर्त्ता सन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को सन्मुख आर्यावर्त्तीय

पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करे कि जिससे वे मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा पाषाणादि मूर्त्तिपूजादि-मंडन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों, जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढोत्साहित हूँ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वामि-
दयानन्दसरस्वतीनिर्मित आर्यभाषाविभूषितो
भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत्॥

* ओ३म् *

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

वैदिक-पुस्तकालय की पुस्तकों की संक्षिप्त सूची

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेद भाष्य ९ भाग	५२)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	२०)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	२॥)
,, ,, केवल संस्कृत	॥।)
अष्टाध्यायी भाष्य पहिला खण्ड	३॥)
,, ,, दूसरा खण्ड	३॥)
पञ्चमहायज्ञविधि	=)॥
निरुक्त	।॥=)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	≡)॥
व्यवहारभानु	=)
भ्रमोच्छेदन	=)॥
अनुभ्रमोच्छेदन	-)
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर)	≡)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला नागरी	)॥।
,, मरहठी व अंग्रेज़ी	-), -)
गोकरुणानिधि	-)॥
स्वामीनारायणमतखण्डन	।)
सत्यार्थप्रकाश	१॥)
आर्याभिविनय गुटका	≡)
आर्याभिविनय मोटे अक्षरों की	॥=)
संस्कारविधि	॥-)
विवाहपद्धति	॥)

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
शास्त्रार्थ फ़ीरोज़ाबाद	।=)
वेदविरुद्धमतखण्डन	।-)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण नागरी	-)॥
,, अंग्रेज़ी	-)॥
भ्रान्तिनिवारण	।-)
शास्त्रार्थ काशी	-)॥
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश नागरी	)॥
,, अंग्रेज़ी	)॥
ऋग्वेद संहिता बढ़िया जिल्द	४)
यजुर्वेद संहिता ,, ,,	२)
सामवेद संहिता सजिल्द	१॥)
अथर्ववेद संहिता बढ़िया जिल्द	३॥)
,, ,, सादा	३)
चारों वेदों की अनुक्रमणिका	२।)
ईशादिदशोपनिषद् मूल	॥।)
छांदोग्योपनिषद् भाष्य	४)
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	४)
यजुर्वेदभाषाभाष्य	५)
नित्यकर्मविधि	)॥।
हवनमन्त्र	)॥।
कम्मेमोरेशन वाल्युम बढ़िया	१०)
,, ,, घटिया	५)

नोट:—डाकमहसूल सब का मूल्य से अलग होगा।

पुस्तक मिलने का पता—

मैनेजर—वैदिक-पुस्तकालय, अजमेर.

॥ ओ३म् ॥

सत्यधर्मविचार

अर्थात्

धर्मचर्चा ब्रह्मविचार

चांदापुर.

जो कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी,

और

मौलवी मुहम्मदकासम साहब

और

पादरी स्कॉट साहब

के

बीच हुआ था ।

विद्वानों द्वारा संशोधित

मुद्रक एवम् प्रकाशक
वैदिक यंत्रालय
अजमेर ।

बारहवीं बार,
२००० प्रति,

मूल्य ।)

संवत् २००८ वि०

॥ ओ३म् खम्ब्रह्म ॥

अथ सत्यधर्मविचार

मेला चांदापुर

धर्मचर्चा ब्रह्मविचार मेला चांदापुर *, कि जिसमें बड़े २ विद्वान् + आर्य्यों, ईसाइयों और मुसलमानों की ओर से एक सत्य के निर्णय के लिये इकट्ठे हुए थे, सज्जन पाठकगणों के हितार्थ मुद्रित किया जाता है कि जिससे प्रत्येक मतों का अभिप्राय सब पर प्रकाशित हो जावे। सब सज्जनों को, किसी मत के क्यों न हों, उचित है कि पक्षपातरहित होकर इसको सुहृद्भाव से देखें।

विदित हो कि यह मेला दो दिन रहा। मेले के आरम्भ से पूर्व कई लोगों ने स्वामीजी के समीप जाकर कहा कि आर्य और मुसलमान मिल के ईसाइयों का खण्डन करें तो अच्छा है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह मेला सत्य और असत्य के निर्णय के लिये किया गया है, इसलिये हम तीनों को उचित है कि पक्षपात छोड़कर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें, किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं।

* यहां यह मेला मुन्शी प्यारेलाल साहब की ओर से प्रतिवर्ष हुआ करता है।

+ इस धर्मचर्चा में आर्य्यों की ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी और मुन्शी इन्द्रमणिजी, ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट साहब, पादरी नोबिल साहब, पादरी पार्कर साहब, और पादरी जान्सन साहब, और मुसलमानों की ओर से मौलवी मोहम्मद क़ासम साहब, सैयद अब्दुल मंसूर साहब विचार के लिये आये थे॥

इसके पश्चात् विचार का समय नियत किया गया। पादरियों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं ठहर सकते, और यही विज्ञापन में भी छापा गया था। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हम इस प्रतिज्ञा पर आये थे कि मेला कम-से-कम पांच और अधिक-से-अधिक आठ दिन तक रहेगा। क्योंकि इतने दिनों में सब मतों का अभिप्राय अच्छे प्रकार ज्ञात हो सकता है। जब इस पर वे लोग प्रसन्न न हुए, तब मुन्शी इन्द्रमणिजी ने कहा कि स्वामीजी! आप निश्चिन्त रहें, सच्चा मत एक दिन में प्रकट हो जावेगा। फिर निम्नलिखित पांच प्रश्नों पर विचार करना सब ने स्वीकार किया :—

पहिले दिन की सभा

मुन्शी प्यारेलाल साहब ने खड़े होकर सब से पहिले कहा—

"प्रथम ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्य्यामी है। हम लोगों के बड़े भाग्य हैं कि उसने हम सब को ऐसे राजप्रबन्ध समय में उत्पन्न किया कि जिसमें सब लोग निर्विघ्नता से निर्भय होकर मतमतान्तरों का विचार कर सकते हैं। धन्य है इस आज के दिन को, और बड़े भाग्य हैं इस भूमि के, कि ऐसे सज्जन पुरुष और ऐसे २ विद्वान् मत-मतान्तरों के जाननेवाले यहां सुशोभित हुए हैं। आशा है कि सब विद्वान् अपने २ मतों की वार्ताओं को कोमल वाणी से कहेंगे, कि जिससे सत्य और असत्य का निर्णय होकर मनुष्यों की सत्य मार्ग में प्रवृत्ति हो जावेगी।"

इसके पश्चात् जब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से पाँच-पाँच मनुष्य और आर्यों की ओर से स्वामीजी और मुन्शी इन्द्रमणिजी दो ही विचार के लिये नियत किये गये, तब मौल-

वियों और पादरियों ने हठ किया कि आर्य्यों की ओर से भी पाँच मनुष्य होने चाहियें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि आर्य्यों की ओर से हम दो ही वहुत हैं। तव मौलवियों ने पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी का नाम अपने ही आप पादरियों से लिखवाना चाहा। तव स्वामीजी ने उनसे तो यह कहा कि आप लोगों को अपनी २ ओर के मनुष्यों के लिखवाने का अधिकार है, हमारी ओर का कुछ नहीं। और पण्डितजी से यह कहा कि आप नहीं जानते ये लोग हमारे और तुम्हारे वीच विरोध करा के आप तमाशा देखना चाहते हैं। इस वात के कहने पर भी एक मौलवी ने पण्डितजी का हाथ पकड़ के उनसे कहा कि तुम भी अपना नाम लिखवा दो, इनके कहने से क्या होता है। तिस पर स्वामीजी ने कहा कि अच्छा जो सव आर्य्य लोगों की सम्मति हो तो इनका भी नाम लिखवा दो, नहीं तो केवल आप लोगों के कहने से इनका नाम नहीं लिखा जावेगा। फिर एक मौलवी साहव उठकर वोले कि सव हिंदुओं से पूछा जावे कि इन दोनों के नाम लिखाने में सव की सम्मति है वा नहीं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि जैसे आपको सिवाय फ़िर्क़े सुन्नत जमात के अहलेशिया आदि फ़िर्क़ों ने सम्मति कर के नहीं विठलाया, और जैसे कि पादरी साहव को रोमन कैथोलिक फ़िर्क़ों ने नियत नहीं किया, ऐसे ही आर्य्य लोगों में भी वहुतों की हमारे विठ-लाने में सम्मति और वहुतों की असम्मति होगी, परन्तु आप लोगों को हमारे वीच गड़वड़ मचाने का कुछ अधिकार नहीं है।

मुन्शी इन्द्रमणिजी ने कहा कि हम सव आर्य्य लोग वेदादि शास्त्रों को मानते हैं, और पण्डितजी भी इन्हीं को मानते हैं, जो किसी का मत आर्य्य लोगों से वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध हो तो चौथा पन्थ नियत करके भले ही विठला दीजियेगा।

इन बातों से मौलवियों का यह अभिप्राय था कि ये लोग आपस में झगड़ें तो हम तमाशा देखें। पण्डितजी का नाम लिखना आर्य्य लोगों ने योग्य न समझा। फिर मौलवी लोग नमाज़ पढ़ने को चले गये, और जब लौट कर आये तब उनमें से मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब ने कहा कि प्रथम मैं एक घंटे तक उन प्रश्नों के सिवाय और कुछ अपने मत के अनुसार कहना चाहता हूँ, उसमें जो किसी की कुछ शंका होगी तो उसका मैं समाधान करूँगा। इसको सब ने स्वीकार किया। मौलवी साहब के कथन का तात्पर्य यह है :—

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् यह कहा कि जिस २ समय में जो-जो हाकिम हो उसीकी सेवा करनी उचित है, जैसे कि इस समय जो गवर्नर है उसी की सेवा करते और उसी की आज्ञा मानते हैं, और जिसकी कि आज्ञापालन का समय व्यतीत होगया, न कोई उसकी सेवा करता है और न उसकी आज्ञा को मानता है। और जैसे जब कोई क़ानून व्यर्थ होजाता है तो उसके अनुसार कोई नहीं चलता, परन्तु जो क़ानून उसकी जगह नियत किया जाता है, उसी के अनुसार सब को चलना होता है, तो इन्हीं दृष्टांतों के समान जो २ अवतार और पैग़म्बर पूर्व समय में थे और जो २ पुस्तकें तौरेत ज़बूर बाइबिल उनके समय में उतरी थीं, अब उनके अनुसार न चलना चाहिये। इस समय के सब से पिछले पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद साहब हैं, इसलिये उनको पैग़म्बर मानना चाहिये। और जो ईश्वरवाक्य अर्थात् क़ुरान उनके समय में उतरा है, उस पर विश्वास करना चाहिये। और हम श्री राम और श्रीकृष्ण आदि और ईसामसीह की निन्दा नहीं करते, क्योंकि वे अपने २ समय में अवतार और पैग़म्बर थे, परन्तु

इस समय तो हज़रत मुहम्मद साहब का ही हुकुम चलता है, दूसरे का नहीं। जो कोई हमारे मज़हब वा कुरानशरीफ़ वा हज़रत मुहम्मद साहब को बुरा कहेगा, वह मारे जाने के योग्य है।

पादरी नोविल साहब—मुहम्मद साहब के पैग़म्बर और कुरान के ईश्वरीय वाक्य होने में सन्देह है, क्योंकि कुरान में जो २ बातें लिखी हैं सो-सो बाइबिल की हैं। इसलिये कुरान अलग आसमानी पुस्तक नहीं हो सकता। और हज़रत ईसामसीह के अवतार होने में कुछ सन्देह नहीं, क्योंकि उसके व्याख्यान से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सत्यमार्ग बतलाने वाला था। केवल उसके व्याख्यान से ही मनुष्य मुक्ति पा सकता है, और उसने चमत्कार भी दिखलाये थे।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—हम हज़रत ईसा को अवतार तो मानते हैं और बाइबिल को आसमानी पुस्तक भी मानते हैं परन्तु ईसाइयों ने उसमें बहुत कुछ घटत बढ़त कर दी है, इसलिये यह वही मूल* नहीं है, और जोकि उसका कुरान ने खण्डन भी कर दिया है, इसलिये वह विश्वास के योग्य नहीं रही। और हमारे हज़रत पैग़म्बर साहब का अवतार सब से पिछला है, इसलिये हमारा मत सच्चा है।

फिर और मौलवियों ने बाइबिल में से एक आयत पादरी साहब को दिखलाई, और कहा कि देखिये आप ही लोगों ने लिखा है कि इस आयत का पता नहीं लगता।

पादरी नोविल साहब—जिस मनुष्य ने यह लिखा है, वह सत्यवादी था। जो उसने लेखक-भूल को प्रसिद्ध कर दिया तो कुछ बुरा नहीं किया। और हम लोग सत्य को चाहते हैं, असत्य को नहीं इसलिये हमारा मत सत्य है।

*पुस्तक। सं०

मौलवी मुहम्मद क़ासम—यह तो ठीक है कि कुछ बुरा नहीं किया, परन्तु जब कि किसी पुस्तक में वा दस्तावेज़ में एक भी बात झूठ लिखी हुई विदित होजावे तो वह पुस्तक कदाचित् माननीय नहीं रहती, और न वह दस्तावेज़ ही अदालत में स्वीकार हो सकता है।

पादरी नोबिल साहब—क्या क़ुरान में लेखकदोष नहीं हो सकता। इस बात पर हठ करना अच्छा नहीं। और जो हम सत्य ही को मानते हैं और सत्य ही की खोज करते हैं, इस कारण उस लेखक-भूल को हमने स्वीकार कर लिया। और तुम्हारे क़ुरान में बहुत घटत बढ़त हुई, जिसके प्रमाण में एक मौलवी ईसाई ने अरबी भाषा में बहुत कहा और सूरतों के प्रमाण दिये।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—आप बड़े सत्य के खोजी हैं! (मुख बनाकर) जो आप सत्य ही को स्वीकार करते हैं तो तीन ईश्वर क्यों मानते हो?

पादरी नोबिल साहब—हम तीन ईश्वर नहीं मानते। वे तीनों एक ही हैं, अर्थात् केवल एक ईश्वर से ही प्रयोजन है। ईसामसीह में मनुष्यता और ईश्वरता दोनों थीं, इस कारण वह दोनों व्यवहारों को करता है। अर्थात् मनुष्य के आत्मा से मनुष्यों का व्यवहार और ईश्वर के आत्मा से ईश्वर का व्यवहार, अर्थात् चमत्कार दिखलाना।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—वाह वाह! एक घर में दो तलवार क्योंकर रह सकती हैं? यह कहना पादरी साहब का अत्यन्त मिथ्या है। उसने तो कहीं नहीं कहा कि मैं ईश्वर हूँ। तुम हठ से उसको ईश्वर बनाते हो।

पादरी नोबिल साहब—एक आयत अंजील की पढ़ी, और कहा कि यह एक आयत है जिस में मसीह ने अपने आप को ईश्वर कहा है, और कई एक चमत्कार भी दिखलाये हैं। इससे उसके ईश्वर होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—जो वह ईश्वर था तो अपने आप को फांसी से क्यों न वचा सका?

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—क़ुरान में कई एक आयतों का परस्पर विरोध दिखलाया, और कहा कि हुकुम का खण्डन हो सकता है, समाचार का नहीं हो सकता। सो आप के क़ुरान में समाचारों का खण्डन है, पहिले वैतूलमुक़द्दस की ओर शिर नमाते थे, फिर कावे की ओर नमाने लगे। और कई आयतों का अर्थ भी सुनाया, और कहा कि ईसामसीह पर विश्वास लाये विना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। और तुम्हारे क़ुरान में वाइविल का और ईसामसीह का मानना लिखा है, तुम लोग क्यों नहीं मानते हो?

ऐसी ही वातों के होते २ सन्ध्या हो गई।

दूसरे दिन की सभा

प्रातःकाल के साढ़े सात वजे सव लोग आये, और वे पाँच प्रश्न कि जो स्वीकार हो चुके थे पढ़े गये। पाँच प्रश्न ये हैं—

१—सृष्टि को परमेश्वर ने किस चीज़ से किस समय और किसलिये वनाया?

२—ईश्वर सव में व्यापक है वा नहीं?

३—ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है?

४—वेद, वाइविल और क़ुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है?

५—मुक्ति क्या है, और किस प्रकार मिल सकती है ?

इसके पश्चात् कुछ देर तक यह बात आपस में होती रही कि एक दूसरे को कहता था कि पहिले वह वर्णन करे। तदनन्तर पादरी स्काट साहब ने पहिले प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ किया और यह भी कहा कि यद्यपि यह प्रश्न किसी काम का नहीं, मेरी समझ में ऐसे प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ है, परन्तु जबकि सब की सम्मति है, तो मैं इसका उत्तर देता हूँ :—

पादरी स्काट साहब—यद्यपि हम नहीं जानते कि ईश्वर ने यह संसार किस चीज़ से बनाया है, परन्तु इतना हम जान सकते हैं कि अभाव से भाव में लाया है। क्योंकि पहिले सिवाय ईश्वर के दूसरा पदार्थ कुछ न था, उसने अपने हुकुम से सृष्टि को रचा है। यद्यपि यह भी हम नहीं जान सकते कि उसने कब इस संसार को रचा, परन्तु उसका आदि तो है। वर्षों की गणना हमको नहीं जान पड़ती, और न सिवाय ईश्वर के कोई जान सकता है। इसलिये इस बात पर अधिक कहना ठीक नहीं।

ईश्वर ने किसलिये इस जगत् को रचा, यद्यपि इसका भी उत्तर हम लोग ठीक २ नहीं जान सकते, परन्तु इतना हम जानते हैं कि संसार के सुख के लिये ईश्वर ने यह सृष्टि की है, कि जिसमें हम लोग सुख पावें, और सब प्रकार के आनन्द करें।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—उसने अपने शरीर से प्रकट अर्थात् उत्पन्न किया, उससे हम अलग नहीं, जो अलग होते तो उस की प्रभुता में न होते। कब से यह संसार बना, यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि हमको रोटी खाने से काम है, न यह कि रोटी कब बनी है। यह जगत् सृष्टि के लिये रचा गया है, क्योंकि सब पदार्थ मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचे हैं।

और हमको अपनी भक्ति के लिये ईश्वर ने रचा है। देखो पृथिवी हमारे लिये है, हम पृथिवी के लिये नहीं। क्योंकि जो हम न हों तो पृथिवी की कुछ हानि नहीं, परन्तु पृथिवी के न होने से हमारी बड़ी हानि होती है। ऐसे ही जल वायु अग्नि आदि सब पदार्थ मनुष्य के लिये रचे गये हैं। मनुष्य सब सृष्टि में श्रेष्ठ है, उसको बुद्धि भी इसी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये दी है, अर्थात् मनुष्य को अपनी भक्ति के लिये और इस जगत् को मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचा है।

स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी—पहिले मेरी सब मुसलमानों और ईसाइयों और सुननेवालों से यह प्रार्थना है कि यह मेला केवल सत्य के निर्णय के लिये किया गया है। और यह ही मेला करने वालों का प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौनसा मत सत्य है। जिसको सत्य समझें, उसको अंगीकार करें। इसलिये यहाँ हार और जीत की अभिलाषा किसी को न करनी चाहिये, क्योंकि सज्जनों का यह ही मत होना चाहिये कि सत्य की सर्वदा जीत और असत्य की सर्वदा हार होती रहे। परन्तु जैसे मौलवी लोग कहते हैं कि पादरीसाहब ने यह बात झूठ कही, ऐसे ही ईसाई कहते हैं कि मौलवीसाहब ने यह बात झूठ कही, ऐसी वार्ता करना उचित नहीं। विद्वानों के बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने २ ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें, कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक दूसरे की निन्दा करना, बुरे २ वचनों से बोलना, द्वेष से कहना कि वह हारा और मैं जीता, ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। सब प्रकार पक्षपात छोड़कर सत्यभाषण करना सब को उचित है। और एक दूसरे से विरोधवाद

करना यह अविद्वानों का स्वभाव है विद्वानों का नहीं। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि कोई इस मेले में अथवा और कहीं कठोर वचन का भाषण न करें।

अब मैं इस पहले प्रश्न का उत्तर कि "ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से और किस समय और किस लिये रचा है," अपनी छोटी सी बुद्धि और विद्या के अनुसार देता हूँ:—

परमात्मा ने सब संसार को प्रकृति से, अर्थात् जिसको अव्यक्त अव्याकृत और परमाणु नामों से कहते हैं, रचा है। सो यह ही जगत् का उपादान कारण है, जिसका वेदादि शास्त्रों में नित्य करके निर्णय किया है, और यह सनातन है। जैसे ईश्वर अनादि है वैसे ही सब जगत् का कारण भी अनादि है। जैसे ईश्वर का आदि और अन्त नहीं, वैसे ही इस जगत् के कारण का भी आदि और अन्त नहीं है। जितने इस जगत् में पदार्थ दीखते हैं, उनके कारण से एक परमाणु भी अधिक वा न्यून कभी नहीं होता। जब ईश्वर इस जगत् को रचता है, तब कारण से कार्य रचता है। सो जैसा कि यह कार्यजगत् दीखता है, वैसा ही इसका कारण है। सूक्ष्म द्रव्यों को मिलाकर स्थूल द्रव्यों को रचता है, तब स्थूल द्रव्य होकर देखने और व्यवहार के योग्य होते हैं। और यह जो अनेक प्रकार का जगत् दीखता है, उसको इसी कारण से ईश्वर ने रचा है। जब प्रलय करता है, तब इस स्थूल जगत् के पदार्थों के परमाणुओं को पृथक् २ कर देता है, क्योंकि जो २ स्थूल से सूक्ष्म होता है वह आंखों से दीखने में नहीं आता, तब बालबुद्धि लोग ऐसा समझते हैं कि वह द्रव्य नहीं रहा, परन्तु वह सूक्ष्म होकर आकाश में ही रहता है, क्योंकि कारण का नाश कभी नहीं होता, और नाश अदर्शन को कहते हैं, अर्थात् वह देखने में न आवे। जब एक २ परमाणु पृथक् २

हो जाते हैं तब उनका दर्शन * नहीं होता, फिर जब वे ही परमाणु मिलकर स्थूल द्रव्य होते हैं तब दृष्टि में आते हैं। यह नाश और उत्पत्ति की व्यवस्था ईश्वर सदा से करता आया है और ऐसे ही सदा करता जायगा, इसकी संख्या नहीं कि कितनी बार ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की और कितनी बार कर सकेगा। इस बात को कोई नहीं कह सकता।

अब इस विषय को जानना चाहिये कि जो लोग 'नास्ति' अर्थात् अभाव से 'अस्ति' अर्थात् भाव मानते हैं, और शब्द से जगत् की उत्पत्ति जानते हैं, उनका कहना किसी प्रकार से ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव से भाव का होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने आँखों से देखा, तो जो उसके पुत्र होता तो वन्ध्या क्यों कहलाती? फिर उसके पुत्र का अभाव होने से उसके पुत्र का विवाह कब हो सकता है? और जैसे कोई कहे कि मैं किसी

* जब कोई वस्तु अत्यन्त छोटी होजाती है तो फिर उसे और छोटा करना असम्भव है। जो किसी वस्तु के टुकड़े करते-करते उसको इतना छोटा करदें कि फिर उसके टुकड़े होना असम्भव हो जावे तो उसको परमाणु कहते हैं, जितनी वस्तुएँ संसार में हैं वे सब परमाणु से बनती हैं। जब किसी पत्थर को तोड़ डालते हैं और उसके अत्यन्त छोटे २ टुकड़ों को पृथक २ कर देते हैं, तो वे परमाणु कि जिनके इकट्ठे होने से फिर पत्थर बनता है, सदा किसी-न-किसी स्वरूप से बने रहते हैं एक परमाणु का भी इस संसार में से अभाव नहीं होता, केवल स्वरूप और गुणों में भेद हुआ करता है। जब मोम की बत्ती को जलाते हैं तो देखने में यह जान पड़ता है कि थोड़ी देर में सब बत्ती नहीं रहती, न जाने कि क्या होगई, परन्तु वे परमाणु जितने बत्ती में थे और ही रूप के वायु के सदृश हो जाते हैं, उनमें के एक परमाणु का भी अभाव कदाचित् नहीं होता॥

स्थान में नहीं था और यहाँ आया हूँ, अथवा सर्प विल में न था और निकल भी आया, तो ऐसी वार्ता विद्वानों की नहीं होती, इसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं फिर वह क्योंकर हो सकती है, जैसे कि हम लोग अपने २ स्थानों में न होते तो चांदापुर में कभी न आ सकते। देखो शास्त्र में लिखा है कि:—"नासत आत्मलाभः। न सत आत्महानम्" अर्थात् जो नहीं है वह कभी नहीं हो सकता और जो है सो आगे को होता है, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विना भाव के भाव कभी नहीं हो सकता। क्योंकि इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका कारण कोई नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव से भाव अर्थात् अस्ति से अस्ति होती है। नास्ति से अस्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यह "वदतो व्याघात" अर्थात् अपनी वात को आप ही काटने के सदृश वात हैं। पहिले किसी वस्तु का अन्यथाभाव कहकर फिर यह कहना कि उस का भाव होगया, पूर्वापर विरोध है। इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता, और न किसी प्रमाण से ही सिद्ध कर सकता है कि विना कारण के कोई कार्य होसके। इसलिये अभाव से भाव अर्थात् नास्ति से वा हुकुम से जगत् की उत्पत्ति का होना सर्वथा असम्भव है। इससे यह ही जानना चाहिये कि ईश्वर ने जगत् के अनादि उपादान कारण से ही सब संसार को रचा है, अन्यथा नहीं।

यहाँ दो प्रकार का विचार स्थित होता है। एक-यह कि जो जगत् का कारण ईश्वर हो तो ईश्वर ही सारे जगत् का रूप हुआ, तो ज्ञान, सुख, दुःख, जन्म, मरण, हानि, लाभ, नरक, स्वर्ग, क्षुधा, तृषा, ज्वर आदि रोग, वन्ध और मोक्ष सव ईश्वर में ही घटते हैं। फिर कुत्ता, बिल्ली, चोर, दुष्ट आदि सव ईश्वर ही बन

गया। दूसरा–यह कि जो सामग्री मानें तो ईश्वर कारीगर के समान होता है। तो उत्तर यह है कि कारण तीन प्रकार का होता है। एक उपादान, कि जिसको ग्रहण करके पदार्थ को बनावें। जैसे मट्टी लेकर घड़ा और सोना लेकर गहना और रूई लेकर कपड़ा बनाया जाय। दूसरा निमित्त, जैसे कुम्हार अपनी विद्या और सामर्थ्य के साथ घड़े को बनाता है। तीसरा साधारण, जैसे चाक आदि साधन और दिशा, काल इत्यादि।

अब जो ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानें तो ईश्वर ही जगत्‌रूप बनता है, क्योंकि मट्टी से घड़ा अलग नहीं हो सकता। और जो निमित्त मानें तो जैसे कुम्हार मट्टी के विना घड़ा नहीं बना सकता, * और जो साधारण मानें जैसे मट्टी से † अपने आप विना कुम्हार घड़ा नहीं बन सकता, ‡ इन दोनों व्यवस्थाओं में वह पराधीन वा जड़ ठहरता है। इसलिये जो यह कहते हैं कि ईश्वर जगत्‌रूप बन गया है तो उनके कहने से चोर आदि होने का दोष ईश्वर में आता है। इससे ऐसी व्यवस्था माननी चाहिये कि जगत् का × कारण अनादि है, और नाना प्रकार के जगत् को बनाने वाला परमात्मा है। और इसी प्रकार जीव भी अपने स्वरूप से अनादि हैं, और स्थूल कार्य जगत् तथा जीवों के + कर्म नित्यप्रवाह से अनादि हैं। ऐसे माने विना किसी प्रकार से निर्वाह नहीं हो सकता।

---

* वैसे परमेश्वर भी प्रकृति के विना जगत् नहीं बना सकेगा। सं०

† चाक आदि साधारण कारण रहते हुए भी। सं०

‡ वैसे परमेश्वर के रहते हुए भी जगत् नहीं बन सकेगा। सं०

× उपादान। सं०

+ साधारण कारण रूपी। सं०

अब यह कि ईश्वर ने किस समय जगत् को बनाया है अर्थात् संसार को बने हुए कितने वर्ष होगये ?, इसका उत्तर दिया जाता है:—

सुनो भाइयो ! इस प्रश्न का हम लोग तो उत्तर दे सकते हैं, आप लोग नहीं दे सकते। क्योंकि जब आप लोगों के मतों में से कोई अठारहसौ वर्ष से, कोई तेरहसौ वर्ष से और कोई पांचसौ वर्ष से उत्पत्ति कहता है तो फिर आप लोगों के मत में जगत् के इतिहास के वर्षों का लेख किसी प्रकार नहीं हो सकता। और हम आर्य लोग सदा से कि जब से यह सृष्टि हुई बराबर विद्वान् होते चले आये हैं। देखो ! इस देश से और सब देशों में विद्या गई है, इस बात में सब देश वालों के इतिहासों का प्रमाण है कि आर्यावर्त्त देश से मिस्र देश में और वहाँ से यूनान और यूनान से योरोप आदि में विद्या फैली है। इसलिये इसका इतिहास किसी दूसरे मत में नहीं हो सकता।

देखो ! हम आर्य लोग संसार की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में वेद आदि शास्त्रों की रीति से सदा से जानते हैं कि हज़ार चतुर्युगियों का एक ब्राह्म-दिन और इतने ही युगों की एक ब्राह्म-रात्रि होती है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति होके जब तक कि वर्तमान होता है, उसका नाम ब्राह्म-दिन है। और प्रलय होके जबतक हज़ार चतुर्युगीपर्य्यन्त उत्पत्ति नहीं होती उसका नाम ब्राह्म-रात्रि है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते और एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगियों का होता है। सो इस समय सातवां वैवस्वत मन्वन्तर वर्त्तमान हो रहा है, और इससे पहिले ये छः मन्वन्तर बीत चुके हैं-स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष। अर्थात् १९६०८५२९७६ वर्षों का भोग हो चुका है और अब २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को

भोग करने के बाक़ी रहे हैं। सो हमारे देश के इतिहासों में यथार्थ क्रम से सब बातें लिखी हैं। और ज्योतिष्शास्त्र में भी मितीवार प्रति संवत् घटाते बढ़ाते रहे हैं। और ज्योतिष् की रीति से जो वर्ष पत्र बनता है उसमें भी यथावत् सबको क्रम से लिखते चले आए हैं। अर्थात् एक २ वर्ष घटाते और एक २ वर्ष भोगने में आजतक बढ़ाते आये हैं। इस बात में सब आर्य्यावर्त्त देश के इतिहास एक हैं, किसी में कुछ विरोध नहीं।

फिर जब कि जैन मतवाले और मुसलमान इस देश के इतिहासों को नष्ट करने लगे, तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के इतिहास को कण्ठ कर लिया, सो बालक से लेके वृद्ध तक नित्यप्रति उच्चारण करते हैं कि जिसको संकल्प कहते हैं और वह यह है:—

ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्य्यावर्त्तान्तरैकदेशेऽमुकनगरेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कार्यं कृतं क्रियते वा॥

जो इसको ही विचार ले तो इससे सृष्टि के वर्षों की गणना बराबर जान पड़ती है।

जो कोई यह कहे कि हम इस बात को नहीं मान सकते, तो उसका उत्तर यह है कि जो परम्परा से मिती वार दिन चढ़ाते चले आते हैं, और जब कि इतिहासों और ज्योतिष् शास्त्रों में भी इसी प्रकार लिखा है तो फिर इसको मिथ्या कोई नहीं कह सकता। जैसे कि वहीखाते में प्रतिदिन मिती वार लिखते हैं, और उसको कोई झूठ नहीं कह सकता। और जो यह कहता है उससे भी पूछना चाहिये कि तुम्हारे मत में सृष्टि की उत्पत्ति को कितने वर्ष हुए हैं? तब वह या तो छः हज़ार या

सात हज़ार या आठ हज़ार वर्ष बतलावेगा। तो वह भी अपने पुस्तकों के अनुसार कहता है, तो इसी प्रकार उसको भी कोई नहीं मानेगा, क्योंकि यह पुस्तक की बात है।

और देखो, भूगर्भविद्या से जो देखा जाता है तो उससे भी यह ही गणना ठीक २ आती है। इसलिये हम लोगों के मत में तो जगत् के वर्षों की गिनती बन सकती है, और किसी के मत में कदाचित् नहीं। इसलिये यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति के वर्षों की सबको ठीक माननी उचित है।

अब यह कि ईश्वर ने किस लिये सृष्टि को उत्पन्न किया, इसका **उत्तर** दिया जाता है—

जीव और जगत् का कारण, स्वरूप से अनादि, और जीव के कर्म तथा कार्य जगत् नित्यप्रवाह से अनादि हैं। जब प्रलय होता है, तब जीवों के कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो उनके भोग कराने के लिये और फल देने के लिये ईश्वर सृष्टि को रचता है, और अपने पक्षपातरहित न्याय को प्रकाशित करता है। ईश्वर में जो ज्ञान, बल, दया आदि और रचने की अत्यन्त शक्ति है उनके सफल करने के लिये उसने सृष्टि रची है। जैसे आँख देखने के लिये और कान सुनने के लिये हैं, वैसे ही रचना-शक्ति रचने के लिये है। सो अपनी सामर्थ्य की सफलता करने के लिये ईश्वर ने इस जगत् को रचा है कि सब लोग सब पदार्थों से सुख पावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये जीवों के नेत्र आदि साधन भी रचे हैं। इसी प्रकार सृष्टि के रचने में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि जो समय कम रहने से अब नहीं कहे जा सकते, विद्वान् लोग आप जान लेंगे।

पादरी स्काट साहब—जिसकी सीमा होती है वह अनादि नहीं हो सकता। जगत् की सीमा का निरूपण है, इस

लिये वह अनादि नहीं हो सकता। कोई पदार्थ अपने आपको नहीं रच सकता, परंतु ईश्वर ने जगत् को अपनी सामर्थ्य से रचा है। कोई नहीं जानता कि ईश्वर ने किस पदार्थ से रचा है, और पंडितजी ने भी नहीं वताया कि किस पदार्थ से जगत् को रचा।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—जब कि सब पदार्थ सदा से हैं, तो ईश्वर को मानना व्यर्थ है। कोई उत्पत्ति का समय नहीं कह सकता।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में)-पादरी साहब मेरे कहने को नहीं समझे। मैं तो केवल जगत् के कारण को ही अनादि कहता हूँ, और जो कार्य है सो अनादि नहीं होता। जैसे मेरा शरीर साढ़े तीन हाथ का है सो उत्पन्न होने से पहिले ऐसा न था और न नाश होने के पश्चात् ही ऐसा रहेगा, पर इस में जितने परमाणु हैं वे नष्ट नहीं होते, इस शरीर के परमाणु पृथक् २ हो कर आकाश में बने रहते हैं, और उन परमाणुओं में जो संयोग और वियोग * की शक्ति है

* सब लोग देखते हैं कि अग्नि में बहुत से पदार्थ जल जाते हैं। अब विचार करना चाहिये कि जब कोई पदार्थ जल जाता है तो क्या हो जाता है ?, देखने में आता है कि लकड़ी जल कर थोड़ी सी राख रहती है। तो अब यह विचारना चाहिये कि जलने से वह पदार्थ ही नष्ट हो जाता है वा उस का स्वरूप ही बदल जाता है ?, जब मोमबत्ती जलाते हैं तो देखने में वह मोम नहीं रहता, यह नहीं जान पड़ता कि कहां गया, परन्तु उस मोम का स्वरूप बदल कर वायु के सदृश हो जाता है, और इसी कारण वायु में मिल जाने से दृष्टि में नहीं आता,

इसकी परीक्षा के लिये एक बोतल के भीतर मोमबत्ती जलाओ और उसका मुख बन्द कर दो, तो उस बत्ती का जितना भाग वायु के सदृश हो जावेगा वह बोतल से बाहर नहीं जा सकेगा,

तो वह सदा उनमें रहती है। जैसा मट्टी से घड़ा घनाया जो कि वनाने के पहिले नहीं था और नाश होने के पश्चात् भी नहीं रहेगा, परन्तु उसमें जो मट्टी है वह नष्ट नहीं होती, और जो गुण अर्थात् चिकनापन उसमें है कि जिससे वह पिण्डाकार होता है, वह भी मट्टी में सदा से है, वैसे ही संयोग और वियोग होने की योग्यता परमाणुओं में सदा से है। इससे यह समझना चाहिये कि जिन परमाणु द्रव्यों से यह जगत् बना है, वे द्रव्य अनादि हैं, कार्य्य द्रव्य नहीं। और मैंने यह कब कहा था कि जगत् के पदार्थ स्वयं अपने को वना सकते हैं, मेरा कहना तो यह था कि ईश्वर ने उस कारण से जगत् को रचा है।

और जो पादरी साहब ने कहा कि शक्ति से जगत् को रचा है, तो मैं पूछता हूँ कि शक्ति कोई वस्तु है वा नहीं?, जो कहो कि है तो वह अनादि हुई, और जो कहो कि नहीं तो उससे आगे को दूसरी कोई वस्तु भी नहीं बन सकती। और जो पादरी साहब ने यह कहा कि पण्डितजी ने यह नहीं बताया कि किससे

पर थोड़ी देर के पीछे यह दिखलाई देगा कि वह बत्ती बुझ गई। अब यह सोचना चाहिये कि बत्ती क्यों बुझ गई, और बोतल के वायु में अब कुछ भेद हुवा वा नहीं?, इस बात की परीक्षा इस प्रकार होगी कि थोड़ा सा चूने का पानी उस बोतल में और एक और बोतल में, कि जिसमें केवल वायु भरा हुआ हो और उसमें कोई बत्ती न जली हो, डालो, तो यह दिखलाई देगा कि जिस बोतल में जली है उसमें चूने का रंग दूध सा हो जावेगा, और दूसरी बोतल का जैसे का तैसा रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि बत्ती के जलाने से कोई नई वस्तु बोतल के वायु में मिल गई है। वह एक वस्तु वायु के सदृश है कि जो दृष्टि में नहीं आता। अब देखना चाहिये कि मोमबत्ती का कोई परमाणु नष्ट नहीं होता, पर जिन पदार्थों से वह बत्ती बनी है उनका स्वरूप भिन्न हो जाता है॥

यह जगत् वना है, कदाचित् पादरी साहव ने नहीं सुना होगा। मैंने तो जिससे यह कार्य जगत् वना है, उसको प्रकृति आदि नामों से, कि जिसको परमाणु भी कहते हैं, कहा था।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—सव पदार्थों का कारण अनादि है तो भी ईश्वर को मानना अवश्य है, क्योंकि मट्टी में यह सामर्थ्य नहीं कि आपसे आप घड़ा वन जाय। जो कारण होता है, वह आप कार्य्यरूप नहीं वन सकता, क्योंकि उसमें वनने का ज्ञान नहीं होता। और कोई जीव भी उसको नहीं वना सकता। आजतक किसी ने कोई वस्तु ऐसी नहीं वनाई। जैसा कि यह मेरा रोम है, ऐसी वस्तु कोई नहीं वना सकता। और आजतक ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ और न है कि जो परमाणुओं को पकड़ के किसी युक्ति से उनसे ऐसी वस्तु वना सके। कोई दो त्रिसरेणुओं का भी संयोग नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल उस परमेश्वर की ही यह सामर्थ्य है कि सव जगत् को रचे।

देखो एक आंख की रचना में ही कितनी विद्या का दृष्टान्त है। आजतक वड़े २ वैद्य अपनी वुद्धि लगाते चले आते हैं तो भी आंख की विद्या अधूरी ही है, कोई नहीं जानता कि किस२ प्रकार और क्या २ गुण ईश्वर ने उसमें रक्खे हैं। इसलिये सूर्य चांद आदि जगत् का रचना और धारण करना ईश्वर ही का काम है। तथा जीवों के कर्म्मों के फल का पहुँचाना, यह भी परमात्मा ही का काम है, किसी दूसरे का नहीं। इससे ईश्वर को मानना अवश्य है।

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहव—जव दो वस्तु हैं, एक कार्य्य दूसरा कारण, तो दोनों अनादि नहीं हो सकते। इससे ईश्वर ने नास्ति से अस्ति अपनी सामर्थ्य से की है।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—गुण दो प्रकार के होते हैं-एक अंतस्थ, दूसरे वाह्य। अन्तस्थ तो अपने में होते हैं और वाह्य दूसरे से अपने में आते हैं। और अंतस्थ गुण दूसरे में जाकर वैसे ही वन जाते हैं, परन्तु जिसके गुण होते हैं वह उससे पृथक् होता है। जैसे सूर्य का प्रतिविम्व जिस वर्तन में पड़ता है, वैसा ही वन जाता है परन्तु सूर्य नहीं होजाता, वैसे ईश्वर ने हमको अपनी इच्छा से वनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(ईसाई साहव के उत्तर में)—आप दोनों के अनादि होने में क्यों शंका करते हैं? क्योंकि जितने पदार्थ इस जगत् में वने हैं, उन सव का कारण अर्थात् परमाणु आदि सव अनादि हैं। और जीव भी अनादि हैं कि जिनकी संख्या कोई नहीं वता सकता। और नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती, सो मैं पहिले कह चुका हूँ। परन्तु आप जो कहते हैं कि शक्ति से वनाया, तो वतलाओ कि शक्ति क्या वस्तु है?, जो कहो कि कोई वस्तु है, तो फिर वही कारण ठहरने से अनादि हुई। और ईश्वर के नाम, गुण, कर्म सव अनादि हैं, कोई अव नहीं वने।

(मौलवी साहव के उत्तर में)—आप जो यह कहो कि × भीतर के गुणों से जगत् वना है तो भी नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य के विना अलग नहीं रह सकते, और गुण द्रव्य से वन भी नहीं सकता। जव भीतर के गुणों से जगत् वना है तो जगत् भी ईश्वर हुआ। जो यह कहो कि वाहर के गुणों से जगत् वना तो ईश्वर के सिवाय आपको भी वे गुण और द्रव्य अनादि मानने पड़ेंगे। और जो यह कहो कि इच्छा से हम लोग वन गये, तो मेरा यह प्रश्न है कि इच्छा कोई वस्तु है वा गुण है?,

× ईश्वर के। सं०

जो वस्तु कहोगे, तो वह अनादि ठहर जायगी, और जो गुण मानोगे, तो जैसे केवल इच्छा से घड़ा नहीं बन सकता, परन्तु मट्टी से बनता है, तो वैसे ही इच्छा से हम लोग नहीं बन सकते।

पादरी स्काट साहब—हम लोग इतना जानते हैं कि नास्ति से अस्ति को ईश्वर ने बनाया। यह हम नहीं जानते कि किस पदार्थ से और किस प्रकार यह जगत् बनाया। इसको ईश्वर ही जानता है, मनुष्य कोई नहीं जान सकता।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—ईश्वर ने अपने प्रकाश से जगत् बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में) कार्य को देख कर कारण को देखना चाहिये, कि जो वस्तु कार्य है, वैसा ही उसका कारण होता है। जैसे घड़े को देखकर उसका कारण मट्टी जान लिया जाता है, कि जो वस्तु घड़ा है वही वस्तु मट्टी है। आप कहते हैं कि अपनी शक्ति से जगत् को रचा, सो मेरा यह प्रश्न कि वह शक्ति अनादि है वा पीछे से बनी है? जो अनादि है तो द्रव्यरूप उसको मान लो तो उसीको जगत् का अनादि कारण मानना चाहिये।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—नूर कहते हैं प्रकाश को उस प्रकाश से कोई दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। परन्तु वह नूर मूर्त्तिमान् द्रव्य को प्रसिद्ध दिखला सकता है, और वह प्रकाश करने वाले पदार्थ के विना अलग नहीं रह सकता। इस से जगत् का जो कारण प्रकृति आदि अनादि है, उसको माने विना किसी प्रकार से किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। और हम लोग भी कार्य को अनादि नहीं मानते, परन्तु जिससे कार्य बना है, उस कारण को अनादि मानते हैं।

एक हिन्दुस्तानी ईसाई साहब—जो ईश्वर ने अपनी प्रकृति से सब संसार को रचा तो उसकी प्रकृति में सब संसार सनातन था। और वह उसकी प्रकृति में अनादि था तो ईश्वर की सीमा हो गई।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—जब कि ईश्वर की प्रकृति में सब जगत् था तब ही तो वह अनादि हुआ, और वही अनादि वस्तु रचने से सीमा में आई। अर्थात् लम्बा चौड़ा, बड़ा छोटा आदि सब प्रकार का ईश्वर ने उस में से बनाया। इसलिये रचे जाने से केवल जगत् ही की सीमा हुई, ईश्वर की नहीं।

अब देखिये मैंने जो पहिले कहा था कि नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु भाव से ही भाव होता है, सो आप लोगों के कहने से भी वह बात सिद्ध होगई कि जगत् का कारण अनादि है।

ईसाई साहब—सुनो भाई मौलवी साहबो! कि पण्डितजी इसका उत्तर हज़ार प्रकार से दे सकते हैं। हम और तुम हज़ारों मिल कर भी इन से बात करें तो भी पण्डितजी बराबर उत्तर दे सकते हैं। इसलिये इस विषय में अधिक कहना उचित नहीं।

ग्यारह बजे तक यह वार्त्ता सिद्ध हुई। फिर सब लोग अपने २ डेरों को चले गये। और सब जगह मेले में यही बात चीत होती थी कि जैसा पण्डितजी को सुनते थे, उस से सहस्रगुणा पाया।

दोपहर के पश्चात् की सभा

फिर एक बजे सब लोग आये, और इस पर विचार किया कि अब समय बहुत थोड़ा और बातें बहुत बाक़ी हैं, इसलिये केवल मुक्ति विषय पर विचार करना उचित है। प्रथम थोड़ी देर तक ये बातें होती रहीं कि पहिले कौन वर्णन करे, एक दूसरे पर टालता था। तब स्वामीजी ने कहा कि उसी क्रम से भाषण चाहिये। अर्थात् पहिले पादरी साहब, फिर मौलवी साहब

और फिर मैं। परन्तु जब पादरी साहब और मौलवी साहब दोनों ने कहा कि हम पहिले न बोलेंगे, तब स्वामीजी ने ही पहिले कहना स्वीकार किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—मुक्ति कहते हैं छूट जाने को, अर्थात् जितने दुःख हैं उनसे सब छूटकर एक सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना, और फिर जन्म-मरण आदि दुःखसागर में नहीं गिरना। इसी का नाम मुक्ति है। वह किस प्रकार से होती है ?, इसका पहिला साधन सत्य का आचरण है, और वह सत्य आत्मा और परमात्मा की साक्षी से निश्चय करना चाहिये, अर्थात् जिसमें आत्मा और परमात्मा की साक्षी न हो, वह असत्य है। जैसे किसी ने चोरी की, जब वह पकड़ा गया उससे राजपुरुष ने पूछा कि तू ने चोरी की या नहीं ? तबतक वह कहता है कि मैंने चोरी नहीं की, परन्तु उसका आत्मा भीतर से कह रहा है कि मैंने चोरी की है। तथा जब कोई झूठ की इच्छा करता है तब अन्तर्यामी परमेश्वर उस को जता देता है कि यह बुरी बात है, इसको तू मत कर, और लज्जा शङ्का और भय आदि उसके आत्मा में उत्पन्न कर देता है। और जब सत्य की इच्छा करता है तब उसके आत्मा में आनन्द कर देता है। और प्रेरणा करता है कि यह काम तू कर। अपना आत्मा जैसे सत्य काम करने में निर्भय और प्रसन्न होता है, वैसे झूठ में नहीं होता। जब परमात्मा की आज्ञा को तोड़कर बुरा काम कर लेता है, तब उस की मुक्ति किसी प्रकार नहीं होसकती। और उसी को असुर, दुष्ट, दैत्य और नीच कहते हैं। इसमें वेद का प्रमाण है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

यजुर्वेद, अध्याय ४० । मन्त्र ३॥

आत्मा का हिंसन करनेवाला, अर्थात् जो परमेश्वर की आज्ञा को तोड़ता है, और अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध बोलता, करता और मानता है, उसी का नाम असुर, राक्षस दुष्ट, पापी, नीच आदि होता है।

मुक्ति के मिलने के साधन ये हैं:—१—सत्य का आचरण। २—सत्यविद्या अर्थात् ईश्वरकृत वेदविद्या को यथावत् पढ़कर ज्ञान की उन्नति और सत्य का पालन यथावत् करना। ३—सत्य-पुरुष ज्ञानियों का सङ्ग करना। ४—योगाभ्यास करके अपने मन, इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना और ज्ञान को बढ़ाना। ५ परमेश्वर की स्तुति करना, अर्थात् उसके गुणों की कथा सुनना और विचारना। ६—प्रार्थना, कि जो इस प्रकार होती है कि—हे जगदीश्वर! हे कृपानिधे! हे अस्मत्पितः! असत्य से हम लोगों को छुड़ा के सत्य में स्थिर कर और हे भगवन्! हम को अन्धकार अर्थात् अज्ञान और अधर्म आदि दुष्ट कामों से अलग करके विद्या और धर्म आदि श्रेष्ठ कामों में सदा के लिये स्थापन कर। और हे ब्रह्म! हम को जन्म मरणरूप संसार के दुःखों से छुड़ाकर अपनी कृपाकटाक्ष से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर।

जब सत्य मन से अपने आत्मा प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को जीव भजता है, तब वह करुणामय परमेश्वर उस को अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता पिता के पास नीचे आना चाहता है, वा नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हज़ारों आवश्यकता के कामों को भी माता पिता छोड़कर और दौड़कर अपने लड़के को उठाकर गोद में लेते हैं कि हमारा लड़का कहीं गिर पड़ेगा, तो उसको चोट लगने से उसको दुःख होगा। और जैसे माता पिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने

की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है, तब वह अनन्तशक्तिरूप हाथों से उस जीव को उठा कर अपनी गोद में सदा के लिये रखता है, फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता है और वह सदा आनन्द में रहता है।

पक्षपात को छोड़कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके अर्थ को सिद्ध करना चाहिये। देखो, सब अन्याय अधर्म और पक्षपात से होता है, जैसे कि यह मौलवी साहब का वस्त्र बहुत अच्छा है, मुझ को मिले तो मैं उसको ओढ़कर सुख पाऊं, इस में अपने सुख का पक्षपात किया, और मौलवी साहब के सुख दुःख का कुछ विचार न किया। इसी प्रकार पक्षपात से ही नित्य अधर्म होता है। अधर्म से काम को सिद्ध करना इसी को अनर्थ कहते हैं। और धर्म और अर्थ से कामना अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना इस को काम कहते हैं। और अधर्म अर्थात् अनर्थ से काम को सिद्ध करना इसको कुकाम कहते हैं। इसलिये इन तीनों अर्थात् धर्म अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना उचित है। इसमें यह बात है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करना इसको धर्म, और उसकी आज्ञा का तोड़ना इसको अधर्म कहते हैं। सो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं, और कोई नहीं। और मुक्ति सत्य पुरुषार्थ से सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं।

पादरी स्काट साहब—पण्डितजी ने कहा कि सब दुःखों से छूटने का नाम मुक्ति है, परन्तु मैं कहता हूँ कि सब पापों से बचने और स्वर्ग में पहुँचने का नाम मुक्ति है। कारण यह कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने उसको बहका के उससे पाप करा दिया, इससे उसकी सब सन्तान भी

पापी है। जैसे घड़ी बनाने वाले ने उसकी चाल स्वतन्त्र रक्खी है, और वह आप ही चलती है, ऐसे ही मनुष्य भी अपनी इच्छा से पाप करते हैं, तो फिर अपने ऐश्वर्य से मुक्ति नहीं पा सकते, और न पापों से बच सकते हैं। इसलिये प्रभु ईसामसीह पर विश्वास किये विना मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे हिन्दू लोग कहते हैं कि कलियुग मनुष्यों को पाप कराके विगाड़ता है, इससे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु ईसामसीह पर विश्वास करने से वे भी बच सकते हैं।

प्रभु ईसामसीह जिस २ देश में गये, अर्थात् उसकी शिक्षा जहां २ गई है, वहां २ मनुष्य पापों से बचते जाते हैं। देखो, इस समय सिवाय ईसाइयों के और किसी के मत में भलाई और अच्छे गुणों की उन्नति है? मैं एक दृष्टान्त देता हूँ कि जैसे पण्डितजी बलवान् हैं, ऐसे ही इङ्गलिस्तान में एक मनुष्य बलवान् था, परन्तु वह मद्यपान, चोरी, व्यभिचार आदि बुरे काम करता था, जब वह ईसामसीह पर विश्वास लाया, तब सब बुराइयों से छूट गया। और मैंने भी जब मसीह पर विश्वास किया तब मुक्ति को पाया, और बुरे कामों से बच गया। सो ईसामसीह की आज्ञा के विरुद्ध आचरण से मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये सब को ईसामसीह पर विश्वास लाना चाहिये। उसी से मुक्ति हो सकती है, और किसी प्रकार नहीं।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—हम लोग यह नहीं कह सकते कि पण्डितजी ने जो मुक्ति के साधन कहे केवल उन से ही मुक्ति हो सकती है, क्योंकि ईश्वर की इच्छा है जिसको चाहे उसको मुक्ति दे और जिसको न चाहे न दे। जैसे समय का हाकिम जिस अपराधी से प्रसन्न हो उसको छोड़ दे, और जिससे अप्रसन्न हो उसको क़ैद में डाल दे। उसकी इच्छा है जो

चाहे सो करे, उस पर हमारा ऐश्वर्य नहीं है, न जाने ईश्वर क्या करेगा। पर समय के हाकिम पर विश्वास रखना चाहिये। इस समय का हाकिम हमारा पैग़म्बर है, उस पर विश्वास लाने से मुक्ति होती है। हां! यह बात अवश्य है कि विद्या से अच्छे काम हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति तो केवल उसी के हाथ में है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहव के उत्तर में)—आपने जो यह कहा कि दुःखों से छूटना मुक्ति नहीं, पापों से छूटने का नाम मुक्ति है, सो मेरे अभिप्राय को न समझ कर यह वात कही है। क्योंकि मैं तो पहिले साधन में ही सव पापों अर्थात् असत्य कामों से वचना कह चुका हूँ। और वुरे कामों का फल भी दुःख कहाता है, अर्थात् जव पाप करेगा तो दुःख से नहीं वच सकता। इसके अनन्तर और साधनों में भी स्पष्ट कहा है कि अधर्म छोड़कर धर्म का आचरण करना मुक्ति का साधन है। जो पादरी साहव इन वातों को समझते तो कदाचित् ऐसी वात न कहते।

दूसरा, जो आप यह कहते हैं कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने वहकाकर पाप करा दिया, तो उसकी सन्तान भी इसी कारण से पापी हो गई। सो यह वात ठीक नहीं है, क्योंकि आप लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते ही हैं। सो जव कि ईश्वर के पवित्र वनाये आदम को शैतान ने विगाड़ दिया, और ईश्वर के राज्य में विघ्न करके ईश्वर की व्यवस्था को तोड़ डाला, तो इससे ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकता। और ईश्वर की वनाई हुई वस्तु को कोई नहीं विगाड़ सकता है।

और एक आदम ने पाप किया तो उसकी सारी सन्तान पापी होगई, यह सर्वथा असम्भव और मिथ्या है। जो पाप करता है वही दुःख पाता है, दूसरा कोई नहीं पा सकता। और

ऐसी बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। और देखो एक आदम और हव्वा से किसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि बहन और भाई का विवाह होना बड़े दोष की बात है। इसलिये ऐसी व्यवस्था मानना चाहिये कि सृष्टि के आदि में बहुत से पुरुष और स्त्री परमेश्वर ने रचे।

और जो यह कहा कि शैतान बहकाता है, तो मेरा यह प्रश्न है कि जब शैतान ने सब को बहकाया, तो फिर शैतान को किस ने बहकाया ? जो कहो कि शैतान आप से आप ही बहक गया, तो सब जीव भी आप से आप ही बहक गये होंगे, फिर शैतान को बहकानेवाला मानना व्यर्थ है। जो कहो कि शैतान को भी किसी ने बहकाया है, तो सिवाय ईश्वर के दूसरा कोई बहकानेवाला शैतान को नहीं है। तो फिर जब ईश्वर ने ही सब को बहकाया, तब मुक्ति देनेवाला कोई भी आप लोगों के मत में न रहा, और न मुक्ति पानेवाला। क्योंकि जब परमात्मा ही बहकानेवाला ठहरा, तो बचानेवाला कोई भी नहीं हो सकता। और यह बात परमात्मा के स्वभाव से भी विरुद्ध है, क्योंकि वह न्यायकारी और सत्य कामों का ही कर्त्ता है, तथा अच्छे कामों में ही प्रसन्न होता है। वह किसी को दुःख देनेवाला और बहकानेवाला नहीं।

और देखो, कैसे आश्चर्य की बात है कि यदि शैतान ईश्वर के राज्य में इतना गड़बड़ करता है, फिर भी ईश्वर उसको न दण्ड देता है, न मारता है, न कारागृह में डालता है, इससे स्पष्ट परमात्मा की निर्बलता पाई जाती है, और विदित होता है कि परमात्मा ही को बहकाने की इच्छा है। इस से यह बात ठीक नहीं। और न शैतान कोई मनुष्य है। जबतक शैतान के माननेवाले शैतान का मानना न छोड़ेंगे, तबतक पाप करने से नहीं बच सकते, क्योंकि वे समझते हैं कि हम तो पापी ही नहीं, जैसा शैतान ने आदम को और उसकी सन्तान को बहका के

पापी किया, वैसा ही परमात्मा ने आदम की सन्तान के पाप के बदले में अपने एकलोते बेटे को शूली पर चढ़ा दिया, फिर हम को क्या डर है। और जो हम से कुछ पाप भी होता है तो हमारा विश्वास ईसामसीह पर है, वह आप क्षमा करा देगा, क्योंकि उसने हमारे पापों के बदले में जान दी है। इसलिये ऐसी व्यवस्था माननेवाले पापों से नहीं बच सकते।

और जो घड़ी का दृष्टान्त दिया था सो ठीक है, क्योंकि सब अपने २ काम करने में स्वतन्त्र हैं, परन्तु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के करने के लिये है, बुरे के लिये नहीं। और जो आपने यह कहा कि स्वर्ग में पहुँचना मुक्ति है, शैतान के बहकाने के कारण मनुष्यों में शक्ति नहीं कि पापों से छूटकर मुक्ति पासकें, यह बात भी ठीक नहीं। क्योंकि जब मनुष्य स्वतन्त्र हैं और शैतान कोई मनुष्य नहीं, तो आप दोषों से बचकर परमात्मा की कृपा से मुक्ति को पा सकते हैं। और स्वर्ग से आदम गेहूँ खाने के कारण निकाला गया, और यह ही आदम को पाप हुआ कि गेहूँ खाया, तो मैं आप से पूछता हूँ कि आदम ने तो गेहूँ खाया और पापी होगया, और स्वर्ग से निकाला गया, आप लोग जो उस स्वर्ग की इच्छा करते हैं यो क्या आप लोग वहां सब पदार्थ खावेंगे? तो क्या पाप नहीं होगा? और वहां से निकाले नहीं जाओगे? इससे यह बात भी ठीक नहीं हो सकती।

और आप लोगों ने ईश्वर को मनुष्य के सदृश माना होगा, अर्थात् जैसे मनुष्य सर्वज्ञ नहीं वैसे ही आपने परमात्मा को भी माना होगा कि जिससे आप वहां गवाही और वकील की आवश्यकता बतलाते हैं। परन्तु आपके ऐसे कहने से ईश्वर की ईश्वरता सब नष्ट हो जाती है। वह सब कुछ जानता है, उसको गवाही और वकील की कुछ आवश्यकता नहीं है। और उसको

किसी की सिफ़ारिश की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि सिफ़ारिश न जाननेवाले से की जाती है। और देखिये, आपके कहने से परमात्मा पराधीन ठहरता है, क्योंकि विना ईसामसीह की गवाही वा सिफ़ारिश के वह किसी को मुक्ति नहीं दे सकता, और कुछ भी नहीं जानता। इससे परमात्मा में अल्पज्ञता आती है कि जिससे वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ किसी प्रकार नहीं हो सकता। और देखो, जब कि वह न्यायकारी है तो किसी की सिफ़ारिश और मिथ्या प्रशंसा से न्याय के विरुद्ध कदाचित् नहीं कर सकता, जो विरुद्ध करता है तो न्यायकारी नहीं ठहर सकता।

इसी प्रकार जो आप मनुष्य हाकिम के सदृश ईश्वर के दरबार में भी फरिश्तों का होना मानोगे, तो और बहुत से दोष ईश्वर में आवेंगे। इससे ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि जो सर्वव्यापक है तो शरीरवाला न होना चाहिये। और जो सर्वव्यापक नहीं है तो अवश्य है कि शरीरवाला हो। और शरीरवाला होने से उसकी शक्ति सब पर घेरने वाली न हुई। और शरीरवाला जितना दूर का ज्ञान रखता है पर उसको पकड़ और मार नहीं सकता। और जो शरीरवाला होगा उसका जन्म और मरण भी अवश्य होगा, इसलिये ईश्वर को किसी एक जगह पर और फरिश्तों का उसके दरबार में होना, ऐसी बातें मानना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। नहीं तो ईश्वर की सीमा हो जायगी।

देखो, हम आर्य्य लोगों के शास्त्रों को यथावत् पढ़े विना लोगों को उलटा निश्चय हो जाता है, अर्थात् कुछ का कुछ मान लिया जाता है। जो पादरी साहब ने कलियुग के विषय में कहा सो ठीक नहीं, क्योंकि हम

आर्य्य लोग युगों की व्यवस्था इस प्रकार से नहीं मानते। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि:—

कलिश्शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

ऐत० पञ्जिका ७। कण्डिका १९॥

अर्थात् जो पुरुष सर्वथा अधर्म करता है और नाममात्र धर्म करता है उसको कलि, और जो आधा अधर्म और आधा धर्म करता है उसको द्वापर, और एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है उसको त्रेता, और जो सर्वथा धर्म करता है उसको सतयुग कहते हैं॥

इसके जाने विना कोई बात कह देना ठीक नहीं हो सकती। इससे जो कोई बुरा काम करता है, वह दुःख पाने से कदाचित् नहीं बच सकता, और जो कोई अच्छा काम करता है, वह दुःख पाने से बच जाता है, किसी ही देश में चाहे क्यों न हो।

क्या ईसामसीह के विना ईश्वर अपने सामर्थ्य से अपने भक्तों को नहीं बचा सकता है?, वह अपने भक्तों को सब प्रकार से बचा सकता है, उसको किसी पैग़म्बर की आवश्यकता नहीं। हां! यह सच है कि जब जिस २ देश में शिक्षा करनेवाले धर्मात्मा उत्तम पुरुष होते हैं, उस २ देश के मनुष्य पापों से बच जाते हैं, और उन्हीं देशों में सुख और गुणों की वृद्धि होती है। यह भी सब लोगों के लिये सुधार है, इसका कुछ मत से प्रयोजन नहीं। देखो आर्य लोगों में पूर्व उपदेश की व्यवस्था अच्छी थी, इससे उस समय में वे सुधरे हुए थे। इस समय में अनेक कारणों से सत्य उपदेश कम होने से जो किसी बात का बिगाड़

हो तो इससे आर्य लोगों के सनातन मत में कोई दोष नहीं आ सकता, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के समय से लेके आजतक आर्यों ही का मत चला आता है, वह कुछ वहुत नहीं विगड़ा।

देखो, जितने १८०० वा १३०० वर्षों के भीतर ईसाइयों और मुसलमानों के मतों में आपस के विरोध से फिरके होगये हैं, उनके सामने जो १९६०८५२९७६ वर्षों के भीतर आर्यों के मत में विगाड़ हुआ तो वह वहुत ही कम है। और आप लोगों में जितना सुधार है सो मत के कारण नहीं, किन्तु पार्लिमेण्ट आदि के उत्तम प्रवन्ध से है, जो ये न रहें, मत से कुछ भी सुधार न हो। और पादरी साहव ने जो इङ्गलिस्तान के दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त मेरे साथ मिलाकर दिया, सो इस प्रकार कहना उनको योग्य न था, परन्तु न जाने किस प्रकार से यह वात भूल से उनके मुख से निकली।

(मौलवी साहव के उत्तर में)—ईश्वर चाहे सो करे, ऐसा ठीक नहीं, क्योंकि वह पूर्ण विद्या और ठीक ठीक न्याय पर सदा रहता है, किसी का पक्षपात नहीं करता। इस कहने से कि जो चाहे सो करे यह भी आता है कि ईश्वर ही वुराई भी करता होगा, और उसी की इच्छा से वुराई होती है, यह कहना ईश्वर में नहीं वनता। ईश्वर जो कोई मुक्ति का काम करता है, उसी को मुक्ति देता है। मुक्ति के काम के विना किसी को मुक्ति नहीं देता। क्योंकि वह अन्याय कभी नहीं करता। जो विना पाप पुण्य के देखे जिसको चाहे दुःख देवे और जिसको चाहे सुख, तो ईश्वर में अन्याय आदि प्रमाद लगता है। सो वह ऐसा कभी नहीं करता। जैसें अग्नि का स्वभाव प्रकाश और जलाने का है, इनके विरुद्ध नहीं कर सकता, वैसे ही परमात्मा

भी अपने न्याय के स्वभाव से विरुद्ध पक्षपात से कोई व्यवस्था नहीं कर सकता।

सब समय का हाकिम मुक्ति के लिये परमेश्वर ही है, दूसरा कोई नहीं। और जो कोई दूसरे को माने, उसका मानना व्यर्थ है। मुक्ति दूसरे पर विश्वास करने से कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर जो मुक्ति देने में दूसरे के आधीन है, या दूसरे के कहने से दे सकता है, तो मुक्ति देने में ईश्वर पराधीन है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। वह किसी का सहाय अपने काम में नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। मैं जानता हूँ कि सब विद्वान् ऐसा ही मानते होंगे। जो पक्षपात से औरों के दिखाने को न मानते हों, तो दूसरी बात है।

इसमें मुझको बड़ा आश्चर्य है कि परमात्मा को "लाशरीक" भी मानते हैं, और फिर पैग़म्बरों को भी मुक्ति देने में उसके साथ मिला देते हैं !, यह बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर धर्मात्मा मनुष्यों को मुक्ति के काम करने से मुक्ति स्वतन्त्रता से दे सकता है, किसी की सहायता के आधीन नहीं। मनुष्य को ही आपस में सहायता की आवश्यकता है, ईश्वर को नहीं। न वह मिथ्या प्रसन्न होनेवाला है, जो मिथ्या प्रसन्न होकर अन्याय करे। वह तो अपने सत्य धर्म और न्याय से सदा युक्त है, और अपने सत्य प्रेम से भरे हुए भक्तों को यथावत् मुक्ति देकर और सब दुःखों से बचाकर सदा के लिये आनन्द में रखता है, इसमें कुछ संदेह नहीं॥

इतने में चार बज गये। स्वामीजी ने कहा कि हमारा

व्याख्यान वाक़ी है। मौलवी साहव ने कहा कि हमारे नमाज़ का समय आगया। पादरी स्काट साहव ने स्वामीजी से कहा कि हम को आप से एकान्त में कुछ कहना है, सो वे दोनों तो उधर गये, इधर एक ओर तो एक मौलवी मेज़ पर जूता पहने हुए खड़े होकर और दूसरी ओर पादरी अपने मत का व्याख्यान देने लगे।

और कितने ही लोगों ने यह उड़ा दिया कि मेला हो चुका। तव स्वामीजी ने पादरी और आर्य लोगों से पूछा कि यह क्या गड़वड़ हो रहा है ?, मौलवी लोग नमाज़ पढ़कर आये वा नहीं !, उन्होंने उत्तर दिया कि मेला तो हो चुका। इसपर स्वामीजी वोले कि ऐसे झटपट मेला किसने समाप्त कर दिया ?, न किसी की सम्मति ली गई, न किसी से पूछा गया। अव आगे कुछ वातचीत होगी वा नहीं ?

जव वहां वहुत गड़वड़ देखी और संवाद की कोई व्यवस्था न जान पड़ी, तो लोगों ने स्वामीजी से कहा कि आप भी चलिये, मेला तो पूरा हो ही गया। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हमारी इच्छा तो यह थी कि कम से कम पांच दिन मेला रहता। इसके उत्तर में पादरी साहवों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं रह सकते। फिर स्वामीजी आकर अपने डेरे पर धर्मसंवाद करने लगे। उस दिन रात को पादरी स्काट साहव और दो पादरियों के साथ स्वामीजी के डेरे पर आये। स्वामीजी ने कुरसियां विछवाकर आदरपूर्वक उनको विठलाया, और आप भी वैठ गये। फिर आपस में वात चीत होने लगी:—

पादरी साहबों ने पूछा कि--आवागमन सत्य है, वा असत्य ?, और इसका क्या प्रमाण है ?

स्वामीजी ने कहा कि--आवागमन सत्य है, और जो जैसे कर्म करता है वैसा ही शरीर पाता है। जो अच्छे काम करता है तो मनुष्य का, और जो बुरे करता है तो पक्षी आदि का शरीर पाता है, और जो बहुत उत्तम काम करता है, वह देवता अर्थात् विद्वान् और बुद्धिमान् होता है। देखो जब बालक उत्पन्न होता है, तब उसी समय अपनी माता का दूध पीने लगता है, कारण यही है कि उसको पहिले जन्म का अभ्यास बना रहता है। यह भी एक प्रमाण है। और धनाढ्य, कङ्गाल, सुखी, दुःखी अनेक प्रकार के ऊंच नीच देखने से विदित होता है कि कर्मों का फल है। कर्म से देह और देह से आवागमन सिद्ध है। जीव अनादि हैं कि जिनका आदि और अन्त नहीं। जिस योनि में जीव जन्म लेता है उसका कुछ स्वभाव भी बना रहता है, इसी कारण मनुष्य आदि विचित्र स्वभाव और प्रकृति आदि के होते हैं। इससे भी आवागमन सिद्ध होता है।

इसी प्रकार और बहुत से प्रमाण आवागमन के हैं। परन्तु जीव का एक बार उत्पन्न होना और फिर कभी न होना, इसका कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो मैंने कहा उसके विरुद्ध होना चाहिये था, सो ऐसा होना असंभव है! और फिर यह बात कि मरा और हवालात हुई, अर्थात् जब क़यामत होगी तब उसका हिसाब किताब होगा तब तक बेचारा हवालात में रहा मानना अच्छा नहीं।

फिर पादरी साहब चले गये। मौलवियों ने शाहजहांपुर जाकर मुन्शी इन्द्रमणिजी को लिखा कि जो आप यहां आवें तो हम आप से शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, परन्तु जब स्वामीजी और मुन्शीजी वहां पहुँचे तो किसी ने शास्त्रार्थ का नाम तक भी न लिया।

ऋषि(७)कालां(३)ङ्क(९)ब्रह्मा(१)ब्दे नभश्शुक्ले दले तिथौ।
द्वादश्यां मंगले वारे ग्रन्थोऽयं पूरितो मया।

॥ इति ॥

* ओ३म् *

आर्य्य-समाज के नियम

++卐++ ++卐++

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहैं॥

* ओ३म् *

शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारणम्

अर्थात्

स्वामिनारायणमतदोषदर्शनात्मकम्

लोकोपकाराय

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामि-

निर्मितम्

अजमेरीय वैदिकयन्त्रालये मुद्रितम्

आर्य्यसंवत् १९७२९४९०४८

पांचवींवार १००० } विक्रमी संवत् २००४ { मूल्य ।)

पुस्तक मिलने का पता—
वैदिक पुस्तकालय, अजमेर.

* ओ३म् *

सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च:—

प्रश्नः—कोऽयं सहजानन्दो नाम ?

उत्तरम्—नारायणावतारः स्वामिनारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः।

प्रश्नः—कश्च नारायणः ?

उत्तरम्—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते।

प्रश्नः—स इदानीमस्ति न वा ?

उत्तरम्—वर्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात्।

नैवं शक्यम्, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्'[1] इत्यादिश्रुतिविरोधात्। ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात्। सावयवदेहधारिणः संयोगजन्यादिमतो नित्यत्वेश्वरत्वयोरसम्भवाच्च। यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति। तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा ?

तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम्। कुतः, मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात्—

'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'[2]॥

---

१. यजुः अ० ४० । मं० ८ ॥

२. मुण्डकोप० १ । २ । १२ ॥

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सरहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते'[1] ॥

इति ब्राह्मणमनुसाद्यस्य वर्तमानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ।

तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षा-विद्याविरहत्वपाखण्डाचारा विज्ञायन्ते । तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचितायाः आदिमोऽयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि ।
वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये ॥ १ ॥

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽध उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैः कस्यापि निश्चयो नास्ति, अत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम् । वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रतास्तीति स्वीक्रियताम् । कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते । इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति । वृन्दावने विहरन् कृष्णः केनापि न दृश्यते । किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते, नैव कृष्णः । पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोषरहितं विहाय 'कृष्णं हृदि चिन्तय' इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति ॥ १ ॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः ।
गृहस्थाश्च मयारामभट्टाद्या ये मदाश्रयाः ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदेश्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवासङ्गतम् ॥ ४ ॥

एवमेवाग्रस्थाः श्लोकाः प्रायशोऽशुद्धाः सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते ।

---

१. मनु० २ । १४० ॥

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि ।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात् ॥ १३ ॥

पाषाणादिमूर्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात् 'तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति' प्रलापात् सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव दृश्यते ॥ १३ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित् ।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः ॥ १४ ॥

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मः सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः ? कुतः, वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठी-तिलकधारणादिपाखण्डानां प्रचारकरणात् सहजानन्दे वदतो-व्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः ॥ १४ ॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः ।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥ १५ ॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोऽस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः, वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपाद-नस्याभावात् । अतः किं समागतं ? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्था-नाञ्च मुखात् कदाचित् केनचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स कृष्णः प्रभुरेव न, तस्य जन्ममरणादिस्वभाव-वत्त्वात् ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात् कार्य्या न पूरुषैः ।
न विवादः स्त्रिया कार्यो न राज्ञा न च तज्जनैः ॥ ३४ ॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद्[1] याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुत-त्वात् सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥ ३४ ॥

---

१ द्र० शत० १४ । ५ । ६ । १; १४ । ६ । ८ । १—१२ ॥

कृष्णदीक्षा गुरोः प्राप्तं तुलसीमालिका गले ।
धार्यो नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव । कुतः. वेदयुक्तिभ्यां विरोधात् । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यं भविष्यतीत्थेवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥

इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्या एव वेदितव्याः ।

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात् स्वकुलागता ।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः ॥ ४६ ॥
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥ ४७ ॥

एवञ्चेत् सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित् त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधारणं कृतमेवासीत्, पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितञ्च ? मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति, तद्व्यर्थमेव । कुतः, तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥ ४६ ॥

नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावात् । अतः सहजानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चां तत आदरात् ।
शक्त्या जपित्वा तन्मन्त्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम् ॥ ५४ ॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ, पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्त्तिं कर्तुं सामर्थ्यन्नैव भवेत् । अतस्तत्पूजाकर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥ ५४ ॥

शैली वा धातुजा मूर्तिः शालिग्रामोऽर्च्य एव तैः ।
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ॥ ५६ ॥

अस्माच्छ्लोकाद् विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जडबुद्धिरासीदिति। कुतः, वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात्। कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्तविरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धेश्च ॥५६॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकं ततः।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यं च तैः सदा ॥ ५८ ॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात्, पाषाणादिजडमूर्त्तेर्भोजनकरणाभावात्, तन्नैवेद्यकरणं व्यर्थमेव। इदन्तु खलु छलमेवास्ति। कुतः, अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥ ५८ ॥

आचार्येणैव दत्तं यद् यच्च तेन प्रतिष्ठितम्।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं वन्द्यमेवेतरत् तु यत् ॥ ६२ ॥
भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम्।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चै राधिकापतेः ॥ ६३ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च तत् कृष्णरूपमेव न, किन्तु तत् पाषाणादिस्वरूपमेव। तच्च कदाचित् केनचिदपि न सेव्यं, न चैव वन्द्यम्। किन्तु यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान् परमात्मा, स एव सर्वस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः ॥ ६२ ॥

अत एवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य, तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्तनं [च] कार्यमिति मिथ्योपदेशं प्रयुक्तस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीद्। असदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते।

अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारश्चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तेषामपि सद्गतिर्न भूता न भवति न भविष्यति च। किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादि-लक्षणं धर्मञ्च यथावद् ये स्वीकरिष्यन्ति, सर्वशक्तिमन्न्यायकारि-दयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद्ये च करिष्यन्ति, तेषामेव सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम् ॥ ६३ ॥

एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते।

एकादशीनां सर्वासां कर्त्तव्यं व्रतमादरात्।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७९ ॥

एकादश्यादीनि व्रतादीनि वेदे क्वापि न विहितानि। किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि। अत एवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ॥ ७९ ॥

सर्ववैष्णवराजश्री------वल्लभाचार्यनन्दनः।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥
कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ॥ ८२ ॥
कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ॥ ८३ ॥
विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः।
एता पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः ॥ ८४ ॥
भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम्।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥ ८५ ॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विट्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवाँस्तत् कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१-८२ ॥

द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते। कुतः, जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्। तद्यात्राकरणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति। किञ्च—'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः'[1] इति छान्दोग्योपनिषदि, 'सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी च' इत्यादिप्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद् वेदेश्वरविज्ञानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः। यैरविद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च ॥ ८३ ॥

शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्, रवेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला। परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पञ्चत्वाभावाद्। 'एताः पूज्यतया मान्याः' इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसङ्गत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति। अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम्।
पुराणं भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ९३ ॥
तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ॥ ९४ ॥

१. छा० उप० ८।१५।१॥

धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः ।
एतान्यष्ट ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ९५ ॥
स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि ।
श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः ॥ ९६ ॥
तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये ।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः ॥ ९७ ॥
श्रीमद्भागवतस्यैव तु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥ ९८ ॥
दशमः पञ्चमः स्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥ ९९ ॥
शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥
एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च ।
अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः ॥ १०१ ॥
मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः ।
धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्रहः ॥ १०२ ॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोका' प्रायोऽशुद्धाः सन्ति । श्रीमद्भागवतादिपुराणानां, भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां, भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषां तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्, वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणात्, मिताक्षराटीकान्वितायाः याज्ञवल्क्यस्मृतेरेवग्रहणात्, पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्यत्त्वैव दृश्यते सहजानन्दे । सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूताधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीका-

राद्विषयासक्तो वेदनिन्दकोऽपि सहजानन्दोऽस्तीति विज्ञायते ॥ ९३-९८ ॥

दशमस्कन्धे भक्तिशास्त्रस्य लेशोऽपि नास्ति। किन्तु, व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनं तत्रास्त्येव प्रसिद्धम्। पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादनं नास्ति। किन्तु, योगाभासप्रतिपादनं तु तत्रास्त्येव। श्रौतसूत्रमीमांसादेर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात् पिष्टपेषणवद्दूषिताया याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात् सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते ॥ ९९ ॥

रामानुजकृतस्य शारीरकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारादविवेकस्सहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते ॥ १०० ॥

श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः, न च स्ववाक्यानाम्। अत एव सहजानन्देन 'अत्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युः' इत्युक्तत्वाद् भ्रान्त एव स मन्तव्यः ॥ १०१ ॥

वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने, वेदेभ्योऽपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रवुक्वन् सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति ॥ १०२ ॥

हृदये जीववज्जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः।
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥१०७॥

स श्रीकृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥१०८॥

स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥१०९॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च ॥११०॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति, सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तनिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात् ॥ १०७ ॥

जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात् कृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः कदाचिन्नैव संभवति । पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दादिस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय, जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दः कथयति, स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः ॥ १०८ ॥

राधा त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य । कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री । पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

'तत्तन्नामोच्यते स च' इति सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव । कुतः, सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तञ्चातो बोध्यम् ॥ ११० ॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि ।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम् ॥११३॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्न वेति विदुषां सन्देहः । स च परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च । पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोऽन्यत्कल्याणकरं किञ्चिन्नास्त्येवेति वदन् सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत् ॥ ११३ ॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत परं फलम् ।
कृष्णे भक्तिश्च तत्संगोऽन्यथा यान्ति विदोऽप्यधः ॥११४॥

'गुणिनां गुणवत्ताया' इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्याम् । अतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोज्ञानमपि यथावन्नासीदिति । कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या

निष्फला वेदविरुद्धा चास्ति । विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति, विद्यायाः प्रकाशस्वरूपत्वात् । किञ्च, अविद्वांस एव सहजानन्द-सदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते। कुतः, अविद्याया अधर्माचरणान्धकारवत्त्वात् ॥ ११४ ॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम् ।
विभाव्य तेन कर्त्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा ॥११५॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मस्वरूपश्चेद् ब्रह्मणा तुल्यत्वं तस्मिन् कुतो न दृश्यते ? तुल्यत्वं चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्रचितं, जीवेन नवीनं जगत् किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते ? जीवब्रह्मणोरैक्यं चेत्तर्हि ब्रह्मैवाविद्याजन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडाबन्धादिदोषयुक्तं जातमेवेति स्वीक्रियताम् । जीवाद् ब्रह्म भिन्नश्चेत् प्रतिज्ञाहानिः । कृष्णोऽपि ब्रह्मभक्तः, एवं सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्मभक्तैरेव भवितव्यम् । नैवान्यस्य कस्यचित् कृष्णादेर्जीवस्य चेति । एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम् ॥ ११५ ॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम् ।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥१२१॥

चक्राङ्कितवत् सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम् । विशिष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते--अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः । विशिष्टो नाम मिलितः । केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति । एवं चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम् । द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति । विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ, मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ, तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति । किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति । तद्यथा सजातीयं

विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्ति, एवं स्वगतभेदोऽपि ब्रह्मणि नास्त्येव, संयोगवियोगाभावात्। अत एव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदयुक्तिसंमतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः। एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम्। गवां पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात् सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। गोलोक एव निवासत्वात् कृष्णसेवानिबन्धनत्वाच्च मैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम् ॥ १२१ ॥

मया प्रतिष्ठापितानां मन्दिरेषु महत्सु च।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि ॥१३०॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैव भवन्ति। वेदानभिहितानां पाषाणादिमूर्त्तीनां जडत्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनां तदानीञ्चेतनत्वात् पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधि खण्डनमेव कर्त्तव्यं, नैव च पूजनमिति ॥ १३० ॥

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः।
कृष्णमन्त्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि ॥१३३॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योऽपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटं प्रसारितम्। तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशं चोक्तवान्। अतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते ॥ १३३ ॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः।
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः ॥१४७॥

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा

पुष्कलं संसारस्थं विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः। पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं विंशांशं धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नै तादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात् सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या, यथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनाञ्च। ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रभृत्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाता। अतः सर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्तनीया। अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम् ॥ १४७ ॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्त्तव्यं चिंतितार्थदम् ॥१४८॥

कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा।
बिल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम् ॥१४९॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति। यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तर्ह्युद्यापनेन विना धनलाभोऽपि शिष्येभ्यो नैव भविष्यति। पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात् पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामहे, एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम् ॥ १४८-१४९ ॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा।
न योषित्प्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम् ॥१७७॥

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था स्थापिता? सा स्त्री नासीत् किम्? पुनश्च 'वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि' इति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च? ताश्च साध्वादिभिस्तच्छिष्यैर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते? तासां राधादीनां च कथा किमर्था क्रियते? अत एव

प्रमत्तगीतवत् प्रलापात् सहजानन्दादिषु वदतोव्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम् ॥ १८७ ॥

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः ।
न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित् ॥१८८॥
न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यं न कर्हिचित् ।
न प्रवेशयितव्या च स्ववासे स्त्री कदाचन ॥१९०॥

साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्तव्यमित्युपदिश्यते भवता । तर्हि भवानसाधुरस्ति किम् ? गृहस्थेन जितेन्द्रियत्वादिकं नैव कर्त्तव्यं किम् ॥ १८८ ॥

कस्यचिन्न्यासस्थापनं नैव रक्षणीयञ्चेद्, विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम् ? वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्थापनं किमर्थं क्रियते, सहजानन्देन च किमर्थं कृतम् ? किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति ॥ १९० ॥

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया ।
सांप्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषां तु विस्तरः ॥२०३॥
सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना ।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी ॥२०४॥

'इति संक्षेपत' इति धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम् । किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते । वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्तीति तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति । लिखितस्य धर्मस्य पुनर्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात् । सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदायिको ग्रन्थो वेद एवास्ति । पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम् ।

विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम्। 'प्रथने वावशब्दे'[1] इति व्याकरणनियमात्। कथनश्रवणोपाधावेव विस्तरेति भवितव्यं, नान्यत्रेति निश्चयः ॥ २०३ ॥

सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणां बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते। वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनादसारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते। 'अभीष्टफलदायिनी'ति प्रलोभनमात्रम्। सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखम्। तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कर्त्तुमनुभवविरुद्धमेव। ईदृक्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते। प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति। तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति। पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम् ॥ २०४ ॥

वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा।
ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ॥२०६॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते, ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति। किन्त्वधर्मानर्थकुकामदृढबन्धसिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः ॥ २०६ ॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते स्वस्मत्संप्रदायतः।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः सांप्रदायिकैः ॥२०७॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनं, कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणं, कदाचित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यम्, इतीत्थं ये वर्त्तन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव। वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं

---

[1] अष्टा० ३।३।३३॥

सत्यं पक्षपातरहितं न्यायं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान् पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्दूषितान्, सहजानन्दादिरचितान्, वेद-पठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान् ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान् सत्यधर्मबहिर्भूतान्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम् ॥ २०७ ॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः ।
कर्त्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्य्यमादरात् ॥२०८॥
वक्त्रभावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम् ।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥२०९॥
युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयं तु पत्रिका ।
आसुर्या सम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित् ॥२१०॥

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थे एवेति वेदितव्यम् ॥ २०८ ॥

ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव। वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित्। पुनः परमादरान्मान्या तु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति। एतत्कथनेन सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान्भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकं तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २०९ ॥

यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्स त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति, तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात्। यस्त्वविद्याद्यसुरसम्पद्युक्तः स एतां स्वीकरोति। तस्मिन् सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात्। सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोऽयं सम्प्रदाहः। इदानीन्तना-

स्सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥ २१० ॥

मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः, परमसुखञ्च ददातीति मिथ्याप्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या?

मिथ्यैवेति निश्चयः। कथं, यो मृतः स आगन्तुं पूर्वदेहकार्यं कर्तुं च नैव समर्थो भवति। यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलास्स्वाधीनाः कृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेत्। भोगार्थञ्च न चैवागच्छति, किमतो विज्ञायते, छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति। नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति।

स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि रचयित्वाग्नौ प्रतप्य वाहूमूले च सजीवान् देहान् दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्था, अहो महत्पापमिति वेद्यम्। केचित्तु वकवृत्तिवत् साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शञ्च। तदाचार्य्यो गृहस्थोऽस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवो हारयन्ति, द्वौ विवाहावप्येकः कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन् सम्प्रदाये वर्त्तते तस्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम्। इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्ध्योहनीयमिति।

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान्।
भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः ॥ १ ॥
भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले।
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागमत् ॥ २ ॥

॥ ओ३म् ॥

स्वामिनारायण-मत-खण्डन

(गुजराती का भाषानुवाद)

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डनः—

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है।

प्रश्न—नारायण कौन है ?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहनेवाला, चतुर्भुज, द्विभुज, और लक्ष्मीपति ईश्वर है।

प्रश्न—वह अब भी (अभी) है कि नहीं ?

उत्तर—ईश्वर नित्य है, इससे वह अब भी है।

खण्डनः—ऐसा होना अशक्य है, क्योंकि वेद में कहा है कि:— "ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्यरूप, शरीर, छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पाप रहित है"।

सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म मरण और देहधारण है ही नहीं, जिसका जन्म-मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते ! फिर आज कल के सहजानन्द से तो क्या कहना है ?

प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिलकुल नहीं घटता, क्योंकि सहजानन्द मर गया और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है। ब्राह्मण भाग में कहा है कि:—

"अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो, उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध् नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये ॥"

और वही मनु भी साक्षी देता है कि:—

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्म्मक्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिये ॥"

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षा-पत्री, जिससे सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है। सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्नलिखित है:—

"श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधाजी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका मैं हृदय से ध्यान धरता हूँ" ॥ १ ॥

राधा वाम और दक्षिण, पश्चिम, आसपास और ऊपर नीचे कहां खड़ी हैं, सो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं। इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी सो व्यर्थ है। जब कि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी हैं तो कृष्ण के मुख में दरिद्रता बैठी है, ऐसा मानना पड़ेगा। महाभारत

में कहा है कि "कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर गये"। अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है? कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां दीखती हैं। निराकार, जन्म-मरण रहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान धरता हूं, ऐसा कहना मिथ्या है ॥ १ ॥

"मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मयाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर आस्था रक्खी नहीं, इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार से इनके बहुतसे आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवें, उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥ १३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्ति के घर को देवालय नाम दिया, इससे और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है, कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था ॥ १३ ॥

"अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे, उसी प्रकार पाखण्डकल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये" ॥ १४ ॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग किसलिये किया? जो कहो कि त्याग नहीं किया तो वेदविरुद्ध

मूर्तिपूजन, कण्ठी, तिलक धारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया कराया? यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है, यहांतक कि अपने कथन को अपने आप ही धोडाला है ॥ १४ ॥

"जिसके कहने से कृष्ण-भक्ति में भंग पड़े, उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा वार्ता सुननी नहीं चाहिये" ॥ १५ ॥

केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है। इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है। क्योंकि वेद में जहां वर्णाश्रम धर्म प्रतिपादन प्रकरण चला है, वहां पर कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है, ऐसा नहीं कहा। यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उस के सम्प्रदाय वालों के मुख से कभी किसी को कथावार्ता नहीं सुननी चाहिये। कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम देना ही नहीं वन सकता, क्योंकि इनके जन्म-मरण आदि दोष हुए हैं ॥ १५ ॥

"स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवार्ता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वाद विवाद नहीं करना चाहिये" ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था, इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने योग्य नहीं ॥ ३४ ॥

"कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये" ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षा, तुलसीमाला धारण और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि जो कहा, सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है, क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है। जो कण्ठी थोड़ासा तिलक धारण करने से पुण्य होता है तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, और जो ऐसा मानते हो तो यह काम जल्दी करो ॥ ४१ ॥

सहजानन्द के ऐसे २ कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

"वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता होय तो उसको मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये। नारायण और केशव की एकात्मता (अभिन्नता) ही है, क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है" ॥ ४६-४७ ॥

त्रिपुण्ड्र रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना, सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय वालों की किसलिये छुड़ाई? "मेरे आश्रितों को" ऐसा वचन सहजानन्द ने वार २ लिखा है, सो मिथ्या है। क्योंकि जिसको जन्म-मरणादि दोष प्राप्त हुए, ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है।

नारायण और शिव दोनों एक ही हैं, ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है, सो मिथ्या है, क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं ॥ ४६-४७ ॥

"इस प्रकार करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना, उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये" ॥ ५४ ॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं, फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो? यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है, वह बिलकुल असत्य है ॥ ५४ ॥

"पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई, मूर्त्ति की यथाशक्ति फल फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना" ॥ ५६ ॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है। वेदविरुद्ध कृष्ण मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है ॥ ५६ ॥

"हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाकी बची प्रसादी आप खानी चाहिये, और कृष्णसेवा में जिस प्रकार बन सके, उसी प्रकार तत्पर रहना" ॥ ५८ ॥

हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्त्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं, इस कारण से मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है। यह बिलकुल छल कपट है, क्योंकि जब ऐसा होता है, तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन् टन् पुं पुं करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है ॥ ५८ ॥

"अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिस में प्राणप्रतिष्ठा करदी होय, उस ही की सिर्फ सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी। हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर में जाना और वहां राधापति कृष्ण कों ऊंची आवाज़ से कीर्त्तन करना" ॥ ६२-६३ ॥

पाषाण आदि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल पत्थर ही है। ऐसा पत्थर किसी को कभी सेवनीय नहीं। इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं। जो सर्वशक्तिमान्, अवतार रहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है, उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये।

शाम को सब मनुष्यों को भगवद्मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियों की, और जिसका जन्ममरण हुआ, ऐसे राधापति कृष्ण नामक मुर्दा की पूजा करनी और उसका ऊंची आवाज़ से कीर्त्तन करना, ऐसा जो ऊपर कहा सो सब मिथ्या उपदेश है। यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है। वह वेद्विद्या बिलकुल नहीं जानता था। असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जासकता है।

इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है, उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है, और न होगी भी। जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपात रहित न्याय और वैरबुद्धि त्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है, उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता, और न्यायकारी, दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा, केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी। इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं ॥ ६२-६३ ॥

"एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों को रखना और कृष्ण के जन्म-दिवस और शिवरात्रि को बड़ा उत्सव करना चाहिये" ॥ ७९ ॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में तो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है। अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों को रखना व्यर्थ है ॥ ७६ ॥

"सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य उनके पुत्र विट्ठल ने जो २ उत्सव निर्माण किये हैं, उन सब उत्सवों को विट्ठल के अनुसार करना चाहिये। जिस प्रकार से विट्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है, उसी प्रकार ग्रहण करनी। द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी, और कंगाल मनुष्यों पर दया रखनी। मेरे आश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये। भूत प्रेतादि उपद्रव करें तो नारायण कवच अथवा हनुमान मन्त्र का जप करना। परन्तु किसी क्षुद्र देव का जप करना नहीं" ॥ ८१-८५ ॥

सर्व वैष्णवराज श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठल ने परधन-हरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है। इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है, इससे सहजानन्द भी दुष्ट था, यह सिद्ध हुआ।

द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया, वह केवल भ्रान्ति से ही किया है, यह निश्चय कर जानना। जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं। इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है।

छन्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है, जिससे अविद्या, जन्ममरण, हर्ष-शोकादि दुःखों से तरे, उसी का नाम तीर्थ होता है।

शिव, विष्णु, गणपति, पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा और सूर्य स्वतः जड़ है, इससे उसकी पूजा विषय में वेद में कहा नहीं। इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये, और इन पांचों की पूजा करनी, यह जो सहजानन्द ने कहा है, वह मिथ्या है। भूत प्रेतों के निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान मन्त्र का जप करना। ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा॥ ८१–८५॥

"वेद, व्याससूत्र, भागवत, भारत में कहा हुआ विष्णु-सहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्धपुराण और वैष्णव-खण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति आदि आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं, उनको इन शास्त्रों को सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये। इन आठ शास्त्रों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूं। भागवत के पांचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है, इससे वे दो स्कन्ध अवश्य जानना। भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पांचवें में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा धर्मशास्त्र

वर्णन किया है। शारीरक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है, वह हमारे अध्यात्मशास्त्र है। इन शास्त्रों के जिन २ वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना, और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये" ॥ ९३–१०२ ॥

ऊपर के सब श्लोक प्रायः अशुद्ध हैं। भागवत आदि पुराण और भारत में विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता आदि का ही केवल स्वीकार, दूसरे ग्रन्थों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट, मिथ्या, भूत प्रेत अधर्म्म कथा प्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है, अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था।

दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं है, किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पांचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं किन्तु योगाभ्यास का प्रतिपादन किया है। श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से और दले हुए पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय में कुछ नहीं जानता था। शारीरक सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था, यह सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है, फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है, सो सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम हैं, यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह सहजानन्द का शरमाके डूब मरना जैसा है ॥ ६३–१०२ ॥

"जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है, उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने से जीव में रहता है, वह स्वतन्त्र और सब को उन २ के कर्मों का फलदाता है, वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य इष्टदेव सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण (प्रसिद्धकर्त्ता) है, जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब लक्ष्मीनारायण, अर्जुन के साथ होय तो तब नरनारायण, और जब बलभद्रादिकों से युक्त होय तब उनको वही नाम देना चाहिये" ॥ १०७–११० ॥

जीववत् कभी ईश्वर बनता नहीं, क्योंकि सर्वशक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकार आदि गुणयुक्त स्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म, मरण, हर्ष, शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है। एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द-स्वरूप, निर्दोष, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्मा को छोड़ के जन्ममरण युक्त कृष्ण की उपासना करनी, यह जो सहजानन्द ने कहा है इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थज्ञान बिलकुल नहीं था। राधा तो 'अनय'

नामक ग्वाले की स्त्री थी। कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था। कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था, इससे उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है। इस प्रकार कथन कर सहजानन्द ने अपनी मूर्खता वतलाई है, क्योंकि सर्वज्ञता के विना सहजानन्द का कथन युक्ति रहित दिखाई पड़ता है ॥ १०७–११० ॥

"उन्हीं की ही (सिर्फ कृष्ण की ही) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है" ॥ ११३ ॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं, इस विषय में विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है। यह कहकर उसने अपनी अविद्या वताई है ॥ ११३ ॥

"गुणवान् पुरुषों को विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना। उसको छोड़ के जो कोई दूसरा कुछ करेगा, वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा" ॥ ११४ ॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छन्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी। कृष्ण मर गया इसलिये अव उस की भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल है। विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है, ऐसा दीख पड़ता है ॥ ११४ ॥

"तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उस में ब्रह्मरूप की भावना करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी" ॥ ११५ ॥

जो जीव ब्रह्मरूप होय तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं दीखती ? जो जीव ब्रह्मतुल्य होय तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा इसीप्रकार जीव थोड़ासा ही नवीन जगत् क्योंकर नहीं रच लेता ? जो जीव ब्रह्म एक होय तो अविद्या जन्म, मरण, हर्ष, शोक, ठंढी, ताप, सुख, दुःख, ताव, पीड़ा, और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न होय तो सहजानन्द का कहना व्यर्थ हुआ। कृष्ण स्वयं ही ब्रह्म-भक्त थे, इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की ही भक्ति करनी और कृष्णादि जीवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये। एक कृष्ण की ही भक्ति करनी यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा, उस से सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है ॥ ११५ ॥

"मेरा मत विशिष्टाद्वैत और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है, वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी, यह मेरी मुक्ति जाननी" ॥ १२१ ॥

सहजानन्द का मत चक्राङ्कित के समान है ऐसा दीख पड़ता है। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब मनुष्य इसी प्रकार करते हैं कि:—अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है। कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता। दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन ही नहीं सक्ता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं होसक्ते। किन्तु ब्रह्म तो अवश्य अद्वैत है, सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म

है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सक्ता। वेद और युक्तिसिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है, यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना। अतः दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं। गौ आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान है, इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही पशु वनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्णसेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो सहजानन्द ने वका है, सो मिथ्या है॥ १२१॥

"मैंने बड़े २ मन्दिरों में लक्ष्मीनारायणादिमूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है, उनकी यथाविधि सेवा करनी"॥ १३०॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी विलकुल विद्या धर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहने वाली पाषाणादिमूर्त्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सक्ता, क्योंकि वेद में मूर्त्ति पूजाविषय में कुछ कहा नहीं इसलिये, और मूर्त्ति स्वतः जड़ है इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारायण आदि तो चेतन थे इस हेतु से मूर्त्ति का यथाविधि खण्डन करना चाहिये, न कि पूजन करना॥ १३०॥

"दो असुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने २ पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमन्त्र का उपदेश करना चाहिये"॥ १३३॥

सहजानन्द ने जाना कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों के धनप्राप्ति कभी होय नहीं। अतः स्पष्ट रीति दीख पड़ता है कि सहजानन्द ने एकदम छल कपट फैला दिया है। परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर कृष्ण का अर्थात् मुर्दामन्त्र का उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी ठहरता है॥ १३३॥

"अपने कमाये हुए धन धान्य का दशमा भाग कृष्ण के अर्पण करें, और जो मनुष्य दुर्बल होंवे बीसवां भाग कृष्ण को देवें" ।। १४७ ।।

परधन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है । इस प्रकार करने में सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत् किञ्चित् मेहनत कार्य के विना ही दसवां, बीसवां भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे। ऊपर कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना, तो कृष्ण खुद तो दसवां अथवा बीसवां भाग लेने को आ ही नहीं सक्ता, और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था । अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ सम्प्रदाय-वालों की तरह खूब धूर्त्तता चलाई है ।

ऐसे २ धूर्त्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्य्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़ मूल से उखाड़ डालना चाहिये। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं ॥ १४७ ॥

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना, उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है । श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें करावें" ।। १४८-१४९ ।।

इससे भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें तो शिष्यों से उद्यापन विना धनलाभ नहीं होय, श्रावण महीने में महादेव पूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन, प्रतिष्ठा

मिलेगी नहीं, ऐसे २ विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है ॥ १४८-१४६ ॥

"देव की मूर्त्ति के सिवाय लिखी हुई अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्त्तियों का कभी स्पर्श न करें और उनकी तरफ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं" ॥ १७७ ॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिर में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों करी? और 'जिन की बाईं तरफ राधा हैं' इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया? सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं? इस प्रकार के प्रमत्त गीत और बकवाद से सहजानन्द पर अनेक प्रकार के दोष लगते हैं ॥ १७७ ॥

"सब इन्द्रियों को जीत लेना, उनमें से विशेष करके रसना इन्द्रिय को जीतना, किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं, उसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना। किसी की स्थापना करनी नहीं, धैर्य का त्याग करना नहीं और अपने रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये" ॥ १८८, १६० ॥

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे, ऐसा जो तुम उपदेश देते हो, तो तुम क्या असाधु हो? तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें? ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें, तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये? वेद, धर्म, युक्तिविरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये? और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापन किया? सब मनुष्यों

को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये ॥ १८८, १९० ॥

"इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है, और इन धर्म्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मे समझ लेना । मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्यों को इष्ट फल की देने वाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥ २०३–२०४ ॥

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन किया नहीं, किन्तु अपनी कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है। वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म्म लिखा है, उसका ज्ञान सहजानन्द को बिलकुल नहीं था। लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है। मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वेद ही है, और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं। "विस्तर" शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। "विस्तर" की जगह विस्तार शब्द लिखना चाहिये। कथन, श्रवण, आदि अर्थों में ही विस्तर शब्द प्रयोग होता है।

सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं, तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था, क्योंकि इसने वेद और युक्ति विरुद्ध पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी, तिलक धारण आदि भ्रष्ट कर्मों का प्रतिपादन किया है। शिक्षापत्री में सार की जगह असार वर्णन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्ट फलदायक है, परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुखप्राप्ति होती है, यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे २ वचनों से सहजानन्द लोभी ठहरता है। लोभ के बिना

सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं, और वृद्धि न होय तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति भी न होय, और जो उसकी प्राप्ति न होय तो इष्ट विषय सुख नहीं मिले। अतः समझना कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी ॥ २०३-२०४ ॥

"जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्त्ताव करेंगे, उनको अवश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होंगे" ॥ २०६ ॥

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा, उस को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा, वल्कि अधर्म, अनर्थ, दुष्टइच्छा, वन्ध, नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे ॥ २०६ ॥

"शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें, वे अपने सम्प्रदाय से वाहर हैं, इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री पुरुषों को समझना चाहिये" ॥ २०७ ॥

पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी, तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न कभी कोई न करें, और जो पुरुष इन चिह्नों को नहीं करें सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म. अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होगी। वेदादि सत्यशास्त्रोक्त सनातन, सत्य, पक्षपातरहित, न्याय धर्म का त्याग करके सहजानन्द आदिकों के वनाये हुए शिक्षा की पत्री आदि भ्रष्ट और वेद युक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, करते हैं और करेंगे, श्रेष्ठ पुरुष उन सव को सद्धर्मरहित और नास्तिक नाम देवें ॥ २०७ ॥

"मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हररोज़ पाठ करें, और जो विद्याहीन हों वे प्रीति से उस का श्रवण करें, और जो श्रवण करना भी न बने तो इस शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से पूजा करें और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें। इस पत्री को दैवी मार्गी पुरुष को देवें किन्तु किसी असुर को न देवें॥" २०८-२१० ॥

वेद का पढ़ना सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुए शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है। इस जड़, व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में अयोग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें, ऐसा जो सहजानन्द ने कहा, सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब अज्ञानी और बालकों को भ्रमाकर उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है।

जो दैवी मार्गी होगा, वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं। जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय का है, वह स्वीकार करता है। उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये। क्योंकि सम्प्रदाय अन्धकाररूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाय उस का नाम 'सम्प्रदाह' पड़ता है। वर्त्तमान में जितने वेद-विरुद्ध सम्प्रदाय हैं, उन सबको सम्प्रदाह नाम देना चाहिये॥ २०८-२१० ॥

प्रश्न—मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है, और परम सुख

देता है, इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है, वह सत्य है कि मिथ्या ?

उत्तर—बिलकुल मिथ्या दीखता है, क्योंकि जो पुरुष मर गया, वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर ही नहीं सक्ता। जो कभी वैसा करने में समर्थ होय तो सम्प्रदाय वालों ने छल कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है, उसको भोगने के लिये भी अवश्य आना चाहिये। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त्त अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे २ कथन करते हैं।

अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दाग कर चक्र आदि चिह्नों के करने से सहजानंद के सम्प्रदाय वालों को अत्यंत पाप लगेगा। जो बगुलाभगत हैं वे स्त्री दर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते, गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मंदिर बांध कपट से द्रव्य आदि पदार्थों को छीन लेते हैं। दो २ विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों, उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष को कभी नहीं रखनी चाहिये॥

* ओ३म् *

आर्य्य-समाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके, करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

* ओ३म् *

वेदविरुद्धमतखण्डनः

अयङ्ग्रन्थः श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः

तच्छिष्यभीमसेनशर्म्मकृतभाषानुवादसहितः

अजमेर नगरे

वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

सम्प्रतिरत्र वेदमतानुयायिपूर्णानन्दस्वामिनः

संवत् २००४ विक्रमीय.

ज्येष्ठ कृष्णा.

नवमवार
१०००

मूल्य ।-)

पुस्तक मिलने का पता—

वैदिक-पुस्तकालय,

अजमेर.

* ओ३म् *

अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं चः—

१—(प्र०) कोऽयं वल्लभो नाम, कश्चास्यार्थः ?

१—(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है, और इस शब्द का अर्थ क्या है ?

२—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः, प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः।

२—(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य्य है, इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है।

३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम, भवन्तश्च के ?

३—(प्र०) आचार्यपन क्या है, और आप कौन हैं ?

४—(उ०) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः ।

४—(उ०) गुरु को आचार्य कहते हैं, और हम लोग वर्णाश्रम धर्मस्थ हैं।

५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ?

५—गुरुपन क्या वस्तु है ?

६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ।

६—(उ०) उपदेश करना, इसको हम गुरुपन कहते हैं।

७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रियः, उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ?

७—(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है, अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ?

८—(उ०) नाद्यः, कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वाभावात्, किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति । न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात्, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । अन्यच्च, सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम् । मृतस्याचार्यत्वकरणासंभवात् । "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठङ्गुरुं समुपगच्छेद्" इति श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात् ।

"उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षते" ॥

इति मनुमताविरोधात् । मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसंबन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम् । तथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च । तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टवचनत्वमप्यसङ्गतन्तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात् ।

८—(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं होसकता, क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना सम्भव नहीं, किन्तु कोई वैसा है । द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उसमें मूर्खों

की प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे, क्योंकि अपने २ सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है, अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है। और भी देखो कि जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे हुओं में न होने, और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने से उस पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता, और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। वेद में लिखा है कि—"वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे।" इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और—"जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं", इस मानवधर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है। मरने पश्चात् पढ़ना पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं वे नहीं हो सकते, क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत है। इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है। और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है।

९—(प्र०) किङ्गुरुत्वं, सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ?

९—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ?, क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है ?

१०—(उ०) नादिमः, कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्वादस्ति चेन्न सङ्गच्छते, विषयमेवायां प्रीतेर्दर्शनात्। "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" इति मनुसाक्ष्य-

विरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वात्, मरणसमयेऽपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन् पदार्थान् कश्चिद् गृह्णाति भवतान्तेन तुल्यत्वाच्च ।

नान्त्यः, असत्योपदेशस्यानभिधानाद् द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च । स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य विरह एवेत्यवगन्तव्यम् ।

"निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते" ॥

इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितास्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति । भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमंत्रोपदेशञ्च त्यजन्तु, नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ।

१०—(उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता, क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं, तो तुम्हारा कहना असङ्गत है, क्योंकि

तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है। धर्मशास्त्र में कहा है कि—"अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है। स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है, और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डा-लादि के तुल्य मृतक के वस्त्र, आभूषणादि पदार्थों को लेते हो, इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए।

और द्वितीय पक्ष, असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध, और दोनों गुरु शिष्य दुःखफलभागी होते हैं। अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है। अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता। धर्म-शास्त्र में कहा भी है—"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है वह ब्राह्मण 'गुरु' कहाता है"। इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है। और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है, इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है। यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते?, यदि करते हो तो पाषणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बांधना. तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ। यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये।

११—(प्र०) भवन्तो गुरुवः, शिष्या मध्यस्था वा ?

११—(प्र०) आप लोग गुरु, शिष्य वा मध्यस्थ हो ?

१२—(उ०) गुरुवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान् वेदान् पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति ?, शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ?, मध्यस्थाश्चेद् ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

१२—(उ०) यदि गुरु हो, तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ?, यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ?, यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है, यह निश्चय जानना चाहिये ।

१३—(प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा ?

१३—(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो, वा वेदमत के विरोधी हो ?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते ?, वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते—"नास्तिको वेदनिन्दकः" ।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः" ॥

इति मनुसाक्ष्यविरोधात् । पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति ?, नो चेन्मन्दिरे

जडमूर्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टादिनादन्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन् पदार्थान्किमर्थमाहरन्ति ?

१४--(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो, तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य सम्प्रदाय को क्यों मानते हो ?, यदि वेदविरोधी हो, तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ?, यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि—"वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है"। और "जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है"। इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो। फिर जन्मने मरने वाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ?, यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि को ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ?

१५—-(प्र०) भवन्तः स्वास्मिन् कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ?

१५—(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं, वा मनुष्यपन की ?

१६—-(उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते ?, तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ?, कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ?, मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ।

१६—(उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ?,

श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ?, श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त हो गये आप लोग कैसे जीवते बने हो ?, और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७—(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये, वैष्णवाश्चेत् कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते ?

१७—(प्र०) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य ?, यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ?

१८—(उ०) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्तस्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो, विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात् । यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथा विष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावश्शिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या । अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ।

१८—(उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण के 'तस्येदम्' इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है, भक्ति विशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया, वैसे कोई विष्णु शब्द के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।

१६—(प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ?

१९—(प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है?

२०—(उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम, इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम्। चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत् सावयवत्वमानित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम्। कुतः, संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति। संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलन्नान्यथा। ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव—"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

२०—(उ०) यदि गोलोक वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति, देहधारी कहते हो, तो व्यापक होना छोड़ो। यदि चतुर्भुजादि आकृति वाला मानते हो तो सावयव, उत्पत्ति धर्मवाला, अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो। क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता। और संयोग अनित्य है, इससे संयोग वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है। वेद में कहा है कि—"ईश्वर शरीर, छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निष्पाप, सर्वत्र व्यापक है।" इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है।

२१—(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम्?

२१—(प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्त्ति के पूजने में पुण्य होता है, वा अपुण्य?

२२—(उ०) पुण्यं भवति, न च पापमिति ब्रूमः। स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च । तत्र वेदविधि-प्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत, इति जल्पामः। वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते। अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव।

२२—(उ०) पुण्य होता है पाप नहीं, ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि थोड़े कण्ठी तथा तिलक के धारण और मूर्त्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का भार लादने, चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है, ऐसा मानो और करो। यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते, तो वेदों में कंठी, तिलकधारण और पाषाणमूर्त्तिपूजन का लेश-मात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है। इसलिये आपका कथन व्यर्थ है।

२३—(प्र०) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम ?

२३—(प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ?

२४—(उ०) पाषाणादिमूर्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनामिति ब्रूम इति, नैवं शक्यं वक्तुम्। कथं, प्राणादीना-न्तत्कर्मणान्तत्रादर्शनात्। यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ?,

ताश्च कथं न कुर्वन्ति ?, यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति ?, भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति। किञ्च, पाषाणादिमूर्तीनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति, न नाड्यश्छिद्राणि च। मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तत एव, प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः क्रियन्ते। यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति, तस्माच्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम्।

यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः। कुत, ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम्। तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोऽस्ति। एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम्। ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति, तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः।

ईश्वरः सर्वव्याप्यस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येऽप्यस्ति, पुनस्तत्पूजने को दोषः, खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ?, एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटञ्चन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति ?,

कुतः,सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात् । नोचेदन्यगृहीतपदार्थानाञ्च पूजनाङ्किमर्थं न कुर्वन्ति ?, सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति । तद्यथा चक्रवर्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद् ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमितायां भूमे राजास्तीति, तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति, तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम् ।

२४—(उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्त्तियों में वेदमन्त्र द्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती । जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ?, और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ?, यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है, तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ?, केवल इसी एक कर्म से तुमको बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी । और यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि के जाने आने का अवकाश ही नहीं, न नाड़ी और इन्द्रिय छिद्र हैं, और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश, नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है, केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं । सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ, तब तो किसी का मरण ही न होवे, इससे बड़ा पुण्य होगा । इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये ।

हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे, ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा, क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा, यह निश्चय जानना चाहिये। जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है अन्य इन्द्रिय से नहीं, यह ईश्वरकृत नियम है, इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये। ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं वे कभी चेतन नहीं होते। वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते, यह निश्चय है।

यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है, तो पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है, और क्यों खण्डन करते हो?, तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चंदन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो?, क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है। जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिसजाना भी सम्भव है। यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते?, जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटीसी किसी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है। तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ति राजा से कोई कहे कि आप दश हाथ भूमि के राजा हैं, उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है, वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा, यह जानना चाहिये।

२५—(प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम्?

२५—(प्र०) छोटी २ बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है, वा पाप ?

२६—(उ०) नाद्यः, कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम् । अन्यच्च, वेदानभिहितपाषाणादिमूर्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियतान्नोचेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम् । न चरमः, कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात् । मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः । तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्वाच्चेति ।

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं, क्योंकि यदि छोटी २ पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है, तो बड़ी २ पीतल आदि की घण्टादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है, ऐसा जानो । और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता है ऐसा मानो, यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा, तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है । यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है, तो ठीक नहीं, क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया, और स्वयं जड़ है तो अन्य को क्या मुक्ति दे सकेगी ।

२७—(प्र०) रुद्राक्षकण्ठीतिलकधारणे किं मानङ्का वा युक्तिः?

२७—(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नरूप कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ?

२८—(उ०) हरिपदाकृतित्वम् । कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं, ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः । हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ?, विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् । अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादतएव पापजनकान्तिलकमिति वेद्यम् । किञ्च तिलकत्वमिति ?, त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः । नैवं वक्तुमुचितम् । तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलास्तिलकं वेत्यर्थस्य जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ।

२८—(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी, और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं। हरि शब्द से किसको लेते हो ?, हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है, उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ?, वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है, इसी से पापकारी है, यह जानना चाहिये। तिलक क्या वस्तु है ?, यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये, यह सिद्ध है, तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा

मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है, यह निश्चय जानना चाहिये।

२६-(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

२६—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादि में पुण्य होता है, वा पाप ?

३०-(उ०) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति, कुतः, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्यतः।

३०-(उ०) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है, क्योंकि 'जिसकी भावना जैसी होती है उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है'।

३१-(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ?

३१—(प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या ?

३२-(उ०) न प्रथमः, कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च, पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या। न द्वितीयः, कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवतीत्यतः। यदि भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनाङ्कृत्वोपव्यासीमहि, यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा।

पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तन्दुलभाव-

नान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनान्दरिद्रः स्वस्मिंश्चक्रवर्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दारिद्र्यभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् ।

तर्हि भावना का नाम ?, भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिंस्तद्बुद्धिरिति । तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमो ह्यभावना चेति ।

३२—(उ०) पहिला पक्ष—भावना का सत्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं, फिर भी सब को सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है, इससे भावना सत्य नहीं। दूसरा पक्ष—भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि भावना के बिना विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है। यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आप के शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है, उतने समय में उतनी दूर आप का शरीर हमको पहुँचा देवे, तब तो भावना ठीक, नहीं तो मिथ्या।

फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी दरिद्र अपने में चक्रवर्त्ती राजा की और चक्रवर्त्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे और वह वैसी ही ठीक २ सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये।

तो फिर भावना किस का नाम है ?, पत्थर में पत्थर, रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है। अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है। रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान, अन्य में अन्य बुद्धि, भ्रमरूप, अभावनी कहाती है।

३३—(प्र०) प्रतिमाशब्देन किङ्गृह्यते ?

३३—(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ?

३४—(उ०) पूजनार्थो चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः।

३४—(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्त्ति को लेते हैं।

३५—(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

३५—(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ?

३६—(उ०) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा। किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ?, ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः। किञ्च भोगनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलनङ्कृतङ्किमतोऽयमर्थः क्रियते ?

"तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेद्" ॥

इति मनुसाक्ष्यं बोध्यम्। प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः। "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति यजुस्संहितायां द्वात्रिंशेऽध्याये। ईश्वरस्य प्रतिमातोलनसाधनमेव न

भवति तस्याऽतुलत्वात्। अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम्।

३६—(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो तो किस का स्वरूप इससे जाना जाता है?, यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है, तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्त्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं?, धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि—"तराजू और प्रतीमान=बाट सब ठीक २ रखने चाहियें, और छः २ महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे।" इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़ घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है। और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है, क्योंकि ईश्वर अतुल है। इसी से आप का किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये।

३७—(प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते?

३७—(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो?

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः। नैवं शक्यम्, पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थत्वात्। यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान् व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थाश्चेति। तद्यथा, केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी

शाटी चेत्यर्थान्न नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते, तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति, न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति ।

"ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति", "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत", "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्य" । इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्यनन्तरन्नवादिनपर्यन्तमृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणान्नान्यस्येति, साक्षात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति । परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः । यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम् ।

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो सो ठीक नहीं, क्योंकि पुराण शब्द विशेषणवाचक होने से व्यावर्तक अर्थवाची होता है । जैसे पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं । जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत, पुराना गुड़, पुरानी साड़ी, इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई । इस कारण

पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है, किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं।

कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि—"ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं।" "अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने।" "पुराणविद्यावेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने," अर्थात् नव दिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें। इस प्रकार पुराण शब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य का नहीं, ऐसी साक्षी है। और वेद ही सब से पुराने हैं। परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं, यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति कराने वाले बनाये हैं। जैसे शिव आदि के नाम के छल से तन्त्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं, वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो।

३९—(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते ?

३९—(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ?

४०—(उ०) मूर्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः। नैवं शक्यम्, कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद् भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति। यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते। कथं, होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात्—

"अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ १॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि ।

पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा" ॥ २ ॥

होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसंगत एवेति निश्चयः । अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः ।

४०—(उ०) मूर्त्ति को स्थापन करने, पूजने के स्थान, जिनमें कि घण्टानाद आर्त्ति आदि करते हैं, उनको देवालय कहते हो, तो ठीक नहीं, क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रान्तियुक्त होने से । इससे जिसमें होम किया जाता वही स्थान देवालय शब्दवाच्य हो सकता है, क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है ।

धर्मशास्त्र में लिखा है कि—"पढ़ाना-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-पितृयज्ञ, होम-देवयज्ञ, वैश्वदेव-भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता, तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये ।" इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है । यह मनु की साक्षी है । इससे आपका किया अर्थ असंगत है, यही निश्चय जानो । इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेनी चाहिये ।

४१—(प्र०) देवशब्देन किं गृह्यते ?

४१—(प्र०) देवशब्द से क्या लेते हो ?

४२—(उ०) ब्रह्माविष्णुमहादेवादीनत्र पूजनार्थांस्तन्मूर्त्तींश्चेति गृह्णीमः । नैवं योग्यम्—

"यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गा मन्त्र" इति निरुक्ते। "मन्त्रमयी देवतेति" पूर्वमीमांसायाम् । तथा "मन्त्रमयी देवतेति" ब्राह्मणे। "आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितमिति" मनुस्मृतौ। "मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव" इति तैत्तिरीयोपनिषदि । इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्ड-मन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहा-दुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीकारा-द्भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः।

एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीन् देवताशब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योऽस्ति किन्तु पशुरेव च —

"योऽन्यां देवतामुपास्ते स पशुरेव देवानाम्" ।

"उत्तिष्ठत जाग्रत तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ" ।

चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम् ।

४९—(उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उनकी मूर्तियों को देव शब्द से लेते हो, सो ठीक नहीं, क्योंकि—

"वेद में जहां २ देवता कहा है, वहां २ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मन्त्र का ही नाम देवता है," यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में—"मन्त्र-स्वरूप ही देवता माना है ।" मनुस्मृति में—"आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है, इसलिये आत्मा ही सब देवता है ।" तैत्तिरीय आरण्यक में—"माता, पिता, आचार्य, अतिथि

को ही देवता माना है"। इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का ही स्वीकार है। इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है।

जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है। और उपनिषद् में यही कहा है कि—"जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है, वह देवताओं में पशु ही है।" "इसलिये हे मनुष्यो! उठो जागो उस आत्मा को जानो, अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो।" इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं, यह निश्चय जानो।

४३—(प्र०) देवलदेवलकशब्दाभ्यां किं गृह्यते ?

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ?

४४—(उ०) मूर्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः। नैवमुचितं वक्तुम्। कथं,—

"यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षते"॥

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्। यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्यते, तल्लाति गृह्लाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयन्देवलो निन्द्यः। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः। कुत्सितो देवलो देवलकः, 'कुत्सिते' इति सूत्रेण कप्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोऽर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम्।

४४—यदि कहते हो कि मूर्त्ति पूजने और मूर्त्तिपूजा से जीविका करनेवाले देवल और देवलक कहाते हैं, तो ठीक नहीं, क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि—‘ जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवस्व, और यज्ञ न करनेवालों का धन आसुर कहाता है।” देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने वाला देवल निन्दित कहाता है। यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह देवलक अतिनिन्दित कहाता है, क्योंकि व्याकरण के ‘कुत्सिते’ सूत्र से निन्दित अर्थ में ‘क’ प्रत्यय होता है। इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है, यह जानना चाहिये।

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न ?

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्म मरण होते हैं, वा नहीं ?

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो, नान्यथेति स्वीक्रियते। भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलार्थञ्च। नैवन्द्याय्यङ्कस्मात्सर्व-शक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्त-त्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति। सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति,स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन। यश्च शरीरधारणा-दिसहायेन कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत्। यथा खल्वसहायेन सर्व-मिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्म-स्थापनमधर्मदुष्टविनाशञ्च। यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वी-

क्रियते तथा न्यायकारित्वादयोऽपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः। अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च।

प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्याऽपेक्षया स्वल्पन्तुच्छमान्तञ्चास्ति, पुनस्तस्य का शरीरसामग्री, यतो निवासार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः—

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्"। "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"। "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म"। "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषस्स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"॥ "अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"। "वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"॥ इति यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः। ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत, इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः।

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्म मरण से विलक्षण दिव्य जन्म मरण होते हैं अन्यथा नहीं, यह स्वीकार है। क्योंकि भक्तों के उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है, तो ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर सर्व-

शक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल, निष्कम्प है। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है, फिर जो शरीर धारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न कर सके, तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता। जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है, वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है। तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है। जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं। यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ होजावे, तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त, अजन्मा और अविकारी है।

प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा, तुच्छ और अन्तवाला है। फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है, जिसमें वह समाय जावे। उससे बड़ा कोई भी नहीं, यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है, तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है?

वेद और उपनिषदों के प्रमाण:—"वह सब में व्याप्त, प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अछेद्य, अभेद्य, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप है।" "वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है।" "वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सब से बड़ा अनन्त है।" "वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप, सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित, सबके बाहर भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है।" "वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महतत्त्व से परे निश्चल है। उसी को ठीक २ जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है।" "वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है। इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है।" "मनुष्य को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सब से बड़ा, पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाश वाला, अन्धकार से परे है। क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है।" इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होते, यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये।

४७—(प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ?

४७—(प्र०) ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

४८—(उ०) निराकारश्चेति वदामः। निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत, तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति। मैवं वाच्यङ्कुतः, सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति। तद्यथा—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" ॥

आत्माऽऽकाशौ निराकारौ, तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत, ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निरा-

कारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते, तथा च स्थूलमय-स्कांतपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था, इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः ।

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वन्न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्" ॥

इत्यादि श्रुतिभ्यः हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात् साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादिवाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम् ।

४८—(उ०) यदि कहो कि निराकार है, तो ठीक है। और जो निराकार होने में तुम को शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके ?, और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके, सो यह ठीक नहीं, क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं। इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है। जैसे प्रमाण—

"उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है, सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है।" इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार हैं। आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु, और तिगुणा स्थूल अग्नि, जल

और पृथिवी है, इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते, इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है।

और–"विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता, विना चक्षु के देखता, विना कान के सुनता, वह सब को जानता, उसका जाननेवाला कोई नहीं, उस को सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं," इत्यादि श्रुति प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं। ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है, साकार से साकार की उत्पत्ति होती है, हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता, इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है।

४६—(प्र०) ईश्वरो मायावी न चेति ?, मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

४६—(प्र०) ईश्वर मायावी है, वा नहीं ?, और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ?

५०—(उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते। नैवं योग्यम्भवितुम्, कथं छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात्। कश्चिद्वदेदयम्मायावीत्यनेन किङ्गम्यतेऽयं छली कपटी चेति। ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम्। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर" इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्।

५०—(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है, तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि छल, कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है। कोई कहे कि यह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है। ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है, इसी से निर्मल, निरञ्जन, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है। ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है, क्योंकि इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—"अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है"।

५१—(प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति, निर्गुणो वा ?

५१—(प्र०) ईश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

५२—(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः। तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोऽपि स एव। एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयगुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः—

"एको देवस्सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"॥

इति साक्ष्याद् ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः। किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम्।

५२—(उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है, यह निश्चित है। जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण, और जन्ममरण, जड़पन, अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। उपनिषद् में कहा है कि—"एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है। सब का अन्तर्यामी, सब का अध्यक्ष, सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान, सब का साक्षी, चेतन, केवल एक और निर्गुण है"।

इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं, क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्त्ता, अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य, उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है, ऐसा जानना चाहिये।

५३—(प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ?

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो, वा नहीं ?

५४—(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः। चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ?, ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोऽर्था गृह्यन्ते। नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुतः, सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति। सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा, सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात्।

सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां स्वतस्सिद्धा। कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात्। सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति। कुतः, ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्त्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति। सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम्।

का तर्हि मुक्तिरिति?, वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते। मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति। वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति। तद्यथा, यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमम्ब्रह्मतत्त्वाविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः। "सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" इति मनुसाक्ष्यात्।

५४—(उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं। चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो?, एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति, इत्यादि अर्थ लेते हैं। यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है। और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्त्तमान

है, इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है । और सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है, क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं। और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है, क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उस में व्याप्य होने से व्याप्य व्यापक सम्बन्ध स्वतःसिद्ध ही है। इसलिये यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ?, यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं, यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहां पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा, तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं । जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती है। इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो। क्योंकि--"परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है।" तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है।

५५---(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता, अहोस्वित्तद्विरोधिनः ?

५५---(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं, वा विरोधी ?

५६—(उ०) न पूर्वः, चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात् । वेदविरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम्—

"पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेद्" ॥

इति मनूक्तत्वात् । एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति । 'सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा' इति विवेकः । कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः ।

५६—(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है। वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं, यह जानना चाहिये। धर्मशास्त्र में कहा है कि:—"पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे, विडाल के स्वभाव से युक्त, शठ, स्वार्थी, वगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे।" ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं, किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं। 'अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया, ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं'। कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये।

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम'। अयमक्षरसंमुदायः सत्योऽस्ति, मिथ्या वेति ?

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ?

५८—(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्त्वान्मिथ्यैवेति। वेदोक्तगायत्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ।

५८—(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है। वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़ कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आप को नास्तिकता और नरक प्राप्ति होगी।

५६—(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ?

५६—(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ?

६०—(उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति । नैवं शक्यं, कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिनस्त्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोऽयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्तव्य इत्यर्थः । एवमेव 'नमो नारायणाय', 'नमश्शिवाय', 'नमो भगवते वासुदेवाय', 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोऽप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः ।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोऽयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद्भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरसमुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः—"श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते

कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।" सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् । कुतः, वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात् प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ।

६०—(उ०) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों, यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों, वा मेरे शरण को नष्ट करें, इत्यादि अर्थ भी सम्भव है। अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है, किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो। वैसे कोई "हिनस्तु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है। उसको तुम कैसे रोक सकोगे ?, इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक, अशुद्ध है। इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये । इसी प्रकार 'नमो नारायणाय ।' 'नमः शिवाय ।' 'नमो भगवते वासुदेवाय ।' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'. इत्यादि अक्षरसमुदायरूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें ।

और वल्लभसम्प्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये । जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र—"श्रीकृष्णः शरणं०" इत्यादि है। इसका अर्थ यह है कि—"श्रीकृष्ण मेरे शरण हों।

सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग, उससे हुआ जो दुःख और क्लेश, उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त-धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूं। और हे कृष्ण! मैं तुम्हारा दास हूं।" सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं, कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ, ऐसा निश्चय कर सको। और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो, कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए। इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है।

६१—(प्र०) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ?

६१—(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ?

६२—(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः। नैतत्सत्यमस्ति, कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात्। गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेप्यसभ्या विद्याहीना आभीर-वन्मूर्खा विज्ञेयाः। किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गो-लोकात्पृथक्कश्चिद् गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम्। तदु-पासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम्।

'कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽह'मित्यादि, इदमशुद्धम्। कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च। पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः। कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्ज-

न्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः। तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं, सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च।

समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात्। दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पापफलकमेव। कुतः, परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात्। तद्धर्मांश्चेति-पुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गवैषम्यानिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च।

'आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मी'त्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः। एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव। दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति। 'शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्' इति मनुसाक्ष्यदर्शनात्। अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रन्थेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः। तद्यथा—

> "श्रावणस्याऽमले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
> साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥
> ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषान्देहजीवयोः।
> सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनान्तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥ ५ ॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥
गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ।"

प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि । स इदानीं वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान्, किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति । किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः । 'साक्षाद्भगवता प्रोक्त' मिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति । तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च ।

सर्वदोषनिवृत्तिरिति, दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ?, नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते, नान्यः कश्चिदिति । हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः । कुतः, 'स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति' न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः ।

सहजा इत्यादि, सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत, कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाहवत् । सर्वसमर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम्भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् । तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ?, लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसम्प्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ?

इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते, भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते—

"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः" ॥

इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् । 'अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चने'त्यादि रचनम्भङ्गापानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम् । कुतः, ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ।

अधर्मोपदेशोऽयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः—'तस्मादादौ०', स्त्रोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं, विवाहानन्तरं स्त्रोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगि वस्तु समर्पणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः ।

अथाऽस्य खण्डनम्—विवाहानन्तरं स्त्रोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?, अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते, इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति ?, तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् । तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः । विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं, कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ।

६२—(उ०) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं, तो यह ठीक सत्य नहीं, क्योंकि जन्म-मरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा, उसमें जो वसते हैं, वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जानने चाहियें । और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्राम-रूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे वे भी वैसे ही होते हैं, यह जानना चाहिये ।

और जो कहा था कि 'अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख क्लेश से ढपा हुआ मैं हूं' इत्यादि, यह अशुद्ध है, क्यों-कि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है । फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं । काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है, क्योंकि शरीर

इन्द्रियादि अपने २ साथ स्वाभाविक स्थित हैं, अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटाकर दूसरे को नहीं दिये जा सकते।

यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है, तो मल मूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे, और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे, यही प्रकट न्याय है। और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफल वाला ही है, क्योंकि परस्त्री का परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है। तथा 'तद्धर्मान्' इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और 'वित्तेहपराणि' इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसंबन्ध भी अशुद्ध ही है, क्योंकि पर शब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है।

'हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। आत्मा के साथ समर्पण करता हूं', यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है। जब जीवात्मा एक ही वस्तु है, दो नहीं हैं, तो फिर आत्मा के साथ देह और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूं, यह कथन अशुद्ध असम्बद्ध ही है। और दास अर्थात् शूद्र हूं, 'शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये,' यह मनुस्मृति की साक्षी है। सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है—

"(श्रावणस्या०) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है, उसको ज्यों-का-त्यों कहते हैं। ब्रह्मसम्बन्धरूप मन्त्र के लेने से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है,

और दोष पांच प्रकार के हैं--एक-सहज स्वाभाविक, २—देश से हुए, ३—कालभेद से हुए, ४—लोक वा धर्मशास्त्र में कहे, और ५—वेद में कहे। ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं। इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मन्त्र से हो सकती है। परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये, अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है, इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये। इससे गुसाइयों के चेले निवेदन करने के वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें, यही नियम है। देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसाईं के चेले किसी वस्तु को भोगें, और समर्पण यही है कि स्वामी गुसाईंजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें। इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है। वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें। गुसाईंजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसाईंजी के चेला चेली कभी न सुनें। जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, वैसा होना चाहिये। वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करे। जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं, वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहियें।"

हमने पहिले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांच हज़ार वर्ष व्यतीत हुए, सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप

आकर कैसे कहा ?, किन्तु कदापि नहीं कहा, केवल वनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है। 'साक्षात् भगवान् ने कहा' यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस 'ब्रह्मसंवन्ध' नामक अक्षर समुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असंवन्ध और अनर्थक है।

और जो सव दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे ?, यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे, तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों, तो उसके दुःखरूप नरकफल भोगने वाले हरि ही होवें, यह निश्चय है। क्योंकि 'स्वयं किये हुए पाप पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है,' इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति होजावे, क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी न रहेगा। सव के समर्पण करने में भी आप तथा आपके शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती। इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं। और ब्रह्मसंवन्ध से देश काल के परिवर्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते ?,

और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहियें ?

इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करने हारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं। नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि —"जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता, अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें, क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।" इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत होती है। और यह जो कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये बिना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती, यह रचना भांग पीकर के ही की है, यह जानना चाहिये। क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है। इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये, यह निश्चय है।

और भी थोड़ा यह वल्लभसम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—"जिस कारण सर्वस्व समर्पण के बिना सब

दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये गुसाईंजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का भी समर्पण करें। विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये। समर्पण कर के उन २ वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें।"

इसका खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण कर के ही पश्चात् अपने भोगसम्बन्धी काम करने चाहियें, तो अपनी स्त्री, कन्या, भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ?, यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं, इससे नहीं करते, तो अन्यों को स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो ?, यदि कहो कि उन का हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते ?

सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिसका जिसके साथ विवाह हुआ, उनका परस्पर समर्पण हो ही गया, अन्यथा नहीं हो सकता, यह जानो। इससे व्यभिचारमय उपदेशों वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये, यही निश्चय है। जो लोग विश्वास करते हैं, वा करेंगे, उन को नरक की प्राप्ति ही फल होना सम्भव है। क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है।

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या। पुष्टिप्रवाह-मर्यादा धर्माचरणार्था, उताऽधर्माचरणार्था ?, नाद्यः, कुतो

वल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानां परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् । अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते, नान्यथा । भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते ।

अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह—'वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति ।' अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति, कुतः, लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात् । तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात् ।

यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा । तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद् व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम् । पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां, तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः । आर्त्तिर्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्त्तिकारः । गोशब्देन पशुगुणवान्, साईशब्देन यवनाऽऽचार्यः । अयं गोसांईयाख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्त्यागञ्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागञ्च वेदोक्तन्धर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति । वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्द्दभो मध्यस्थो वेति वाजिशब्दार्थः । रागोऽस्या-

स्तीति रागी, वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः। दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत्। हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्त्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोऽर्थाः। इत्यादि शब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है, यह भी वैसा ही मिथ्या है। पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है, वा अधर्माचरण के अर्थ ?, इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है। घोड़े, बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा नहीं। आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग, परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना, इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं।

इस विषय में वल्लभ कहता है कि—'लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं', इसमें सन्देह नहीं, किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है, इससे अन्य सब विपरीत हैं'। इसी से वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई, क्योंकि

वल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है। वल्लभ के सम्प्रदाय वाले सभी विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें।

विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है। यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्त्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग **वैष्णव** ही नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये। पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार, उसका जो अरि नाम शत्रु, यह **पूजारि** शब्द का अर्थ है। आर्ति नाम दुःख को जो करे, वह **आर्तिकर्त्ता** कहाता है। गोनामक पशुगुणयुक्त, साईं शब्द से मुसलमानों का आचार्य, अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे, धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े, और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे, वह **गोसाईं** कहाता है। वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं, इसी से गोसाईं कहाते हो। वाजी नाम घोड़ा, दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिच्चर, यह "**वावाजी**" शब्द का अर्थ है। राग जिसमें हो वह रागी, वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको "**वैरागी**" कहते हैं। यही वैरागी शब्द का अर्थ है। दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य, अर्थात् जो जड़ हो उसको **दण्डवत्** कहते हैं, यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ है। काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि **हिन्दु शब्द** का अर्थ है। इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार, विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अव

तक चली आई, और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है। यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है, यह निश्चित है।

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते—शुद्धाद्वैत-शब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?, द्विधा इतं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतं कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव। यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीड़ाकरणार्थमिति च। नैवञ्छक्यं वक्तुम्, कुतः, अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव। यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद् ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ?, तथा च, जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च। तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम्।

द्वीतमिति, 'द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा। सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।' इति वल्लभप्रबुवक्तनन्द्रष्टव्यम्। द्विधाकारणकार्यरूपेण परिणतञ्च तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः। पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः परिणामः। तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूयताम्—ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीडादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता, अतएव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम्।

वल्लभेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म वेद नेह नानास्ति किञ्चन। तज्जलानिति शान्त उपासीते'त्यादि श्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः। कुतः, विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः। यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नाना पित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति, तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति। किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद् ब्रह्मणश्चेति। यथाऽ'यमात्मा ब्रह्म'त्यत्रेदं शब्देनात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं, न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च, तथा 'तज्जलानिति' ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत। तस्माद् ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यादित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा?

"सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबाध्यते पुरः।
सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥ १ ॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥ २ ॥
साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च।
सच्चिदानन्दस्वरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥ ३ ॥
शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः" ॥ ४ ॥

इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः ।

कर्मधारयसमासोऽसंगतः । कुतः, कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात् । षष्ठीतत्पुरुषोऽप्ययमङ्गतः, द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता । अवास्तवौ द्वौ चेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम् । शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोः स्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थान् मैथुनसमये द्वैतं, स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते । 'अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम' इत्यादि पातितकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः। कुतः,लक्ष्मण भट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः, स एव प्रथमतः श्वग्रद्वान्ताशी जातः, तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद् गृही, तथानेकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विठ्ठलेन च कृत स्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः ।

लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टङ्कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते । येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासं कुर्वन्तीमान् गुरूँश्च मन्यन्ते तेऽपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम् । एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति, नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः—

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ १ ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति" ॥ २ ॥

इति धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्तेत स आततायी विज्ञेयः ।

अब शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड का खण्डन लिखते हैंः—

शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ करते हो ?, दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता, जो द्वीत है वही द्वैत, और जो द्वैत न हो वह अद्वैत—कार्य कारण का एकरूप होना है। अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्‌रूप होना अयोग्य ही है। यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है, वह ब्रह्म ही है तो अनन्त विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ?, और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, वढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें। इससे बन्धन, नरक, दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें। इससे वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये।

और द्वीत, द्वैत एक ही बात है, द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता, इस का प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है। यह वल्लभ का भूंकना है। कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है, तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे। पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है। वैसे ही आप के मत में ब्रह्म ही जगत्‌रूप बन गया। इससे क्या आया यह सुनो—जो जगत् में अविद्या

ज्वर पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये, इसी से आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है, यह जानना चाहिये।

वल्लभ ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म०' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना, क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है, उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है। जैसे किसी ने कहा कि सब यह सुवर्ण है, इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं, वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं हैं, किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है, ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि ब्रह्म एकरस, अखण्ड और अभेद्य है। जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, इस वाक्य में 'इदम्' शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। 'तज्जलान इति ब्रह्म', "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता, "तदनु" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है, इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे। अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं। इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं। यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना, तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो कथा ही क्या है?

"यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, यह पहले ही जताया है। 'सर्वं' शब्द से जितना देखा सुना यह जगत् है, वह सब जानना, इससे यह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है। क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार, सर्वशक्ति-युक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप

है, उसी से यह जगत् हुआ है।" इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं, यह निश्चय जानो।

शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण, जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्यकारण के एकस्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने से असङ्गत हैं। षष्ठीतत्पुरुष समास भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं, उनकी एकता क्योंकर हो सकती है?, और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं, तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है, इससे शुद्ध पुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है, अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। 'मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे' इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करने वाला जानना चाहिये। क्योंकि इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मण भट्ट हुआ। उसने पहिले संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया। इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहिले कुत्ते के तुल्य वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया। पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ। इसने भी पहिले विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ, विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया, इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

इनके आदिपुरुष लक्ष्मणभट्ट से लेकर अब तक वल्लभ-सम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है, तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ

लोगों को गुरु मानते हैं, वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता, अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है, पाप नहीं। इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है:—"गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों, तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता। चाहे प्रसिद्धि में मारे वा अप्रसिद्धि में, सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है, किन्तु हिंसा नहीं कहाती"। धर्म को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो वह आततायी कहाता है।

(प्र०)—शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत, उताऽन्धकार-रूपम्?

(प्र०)-शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है, वा स्वभाव से अन्धकार-रूप है?

(उ०)—नाद्यः, कुतः, स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थसूर्यापेक्षाभावात्। न चरमः, स्वभावतोऽन्धकार-स्वरूपञ्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात्। एवमेव तत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम्। अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डमतसिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धिस्तु का कथा?

एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम्। विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात्?, किन्तु परस्त्रीगमन-परधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम्। तत्र दिङ्मात्र-निदर्शनं वर्ण्यते—'निजमुरलिकेति,' मुरलिकानादेन तेनागता

गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम्। प्रतिलक्षणे, युवतिं युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव। कुतः, मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात्।

एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम्। तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव। तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते—राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः, अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति। अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति। पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीरान्निसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे।

तथा वल्लभस्य महाप्रभुरति संज्ञा कृता। प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति। 'प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत' इत्यादिश्रुतिषु वर्णितम्। तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोऽपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु का कथा?, पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते, यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः। यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक्॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः॥

(उ०)-प्रकाशरूप होना, पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे। सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके, सो संभव नहीं। स्वभाव से अन्धकारस्वरूप होना, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकार-स्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे। इसप्रकार सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो। इस पूर्वोक्त प्रकार 'शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड' और 'सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड' इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है। ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है?

इसी प्रकार विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो। जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था, तो फिर विद्वानों का मण्डन कैसे कर सकता है?, किन्तु परस्त्री-गमन, पराया धन हरना और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था, अन्य किसी कार्य में नहीं। सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं—विट्ठलकृत विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में 'निजमुरलिका०' इत्यादि लिखा है। अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुन के गोकुल की सुंदर सुंदर स्त्रियां आईं, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया। अर्थात् युवति २ स्त्रियों को देख कर, जितनी गोपों की स्त्रियां थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया, इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से विद्वन्मण्डन नाम अयोग्य ही है, क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है।

इसी प्रकार 'अणुभाष्य' भी असङ्गत ही है। और ऐसे ही 'रस-भावना' आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं—'राधा के कुच आदि अंगों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये, तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं। कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन रात क्रीड़ा करते हैं। सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं, उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक २ स्त्री को एक २ पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं।'

और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है। प्रभु नाम ईश्वर का है। 'प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है' यह वेद में कहा। जब उस ईश्वर के तुल्य अब तक न कोई हुआ न होगा, तो उससे अधिक कौन हो सकता है। फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है, वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है, वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं। इति शुभम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामि-
निर्मितस्तच्छिष्यभीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितश्च
वेदविरुद्धमतखण्डनो ग्रन्थः समाप्तः ॥

* ओ३म् *

आर्य्य-समाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके, करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहैं॥

॥ ओ३म् ॥

वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

अर्थात्

आधुनिक वेदान्तियों के मत में वेदादि सत्यशास्त्रों के पठनपाठन छूटने से जो ध्वान्त अर्थात् अन्धकार फैल गया है उसका निवारण

जिसमें

श्रौतमार्गानुकूल वादानुवादसहित

वेदान्त मत का निरूपण

वैदिक-यन्त्रालय अजमेर में

मुद्रित हुआ.

ग्यारहवीं वार ५००० } संवत् २००७ { मूल्य =)
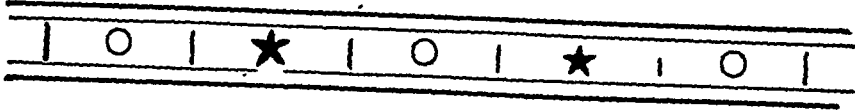
छन्दः शिखरिणी
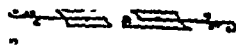
दया पूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः,
गिरायानं जानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना ।
स वेदान्तश्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः,
समुद्धर्त्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम् ॥

* ओ३म् *
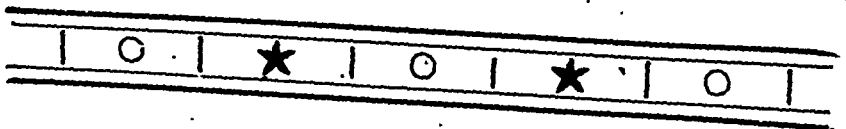
अथ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं, तथा मनुष्यों को हठ अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं। सो केवल अल्पज्ञानी लोग इन के उपदेशजाल में फँस के मत्स्यवत् मरण क्लेशयुक्त होके अधर्म्म, अनैश्वर्य और पराधीनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं।

एक बात इनकी यह है कि—जीव को ब्रह्म मानना। दूसरी यह है कि—स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता हैं। तीसरी बात यह है कि—जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं। [चौथी बात यह है कि]—मोक्ष में जीव का लय मानते हैं तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध, इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं, परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं:—

१—जीव को ब्रह्म मानने में प्रथम इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि—"प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म"। इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं, परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है, किन्तु वेद का व्याख्यान जो "ऐतरेय ब्राह्मण" उस में यह वाक्य है, सो ऐसा पाठ है कि—"प्रज्ञानं ब्रह्म"। सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि—

"प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं, अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्"॥

(व्याख्या)—जिस में प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा

निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा। "ब्रह्म" जो सब से वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला तथा व्यवहार में भी बृहत् (बड़े) सुख का देनेवाला, ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है।

इस वाक्य का नाम "महावाक्य" नवीन वेदान्तियों ने रक्खा है, सो अप्रमाण है, क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का "महावाक्य" नाम नहीं लिखा है।

"अहं ब्रह्मास्मि" इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूं अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ।

यह अनर्थ इनका बिलकुल खोटा हैं, क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का संबन्ध देखे विना चोर की नाईं बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलबसिन्धु का अर्थ करके स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो, इस वचन का पूर्वापर संबन्ध इस प्रकार है—शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४। प्रपाठक २। ब्राह्मण २। कण्डिका १८—

"आत्मेत्येवोपासीत। अत्र ह्येते सर्वऽएकं भवन्ति॥" इत्युपक्रम्य—

तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियᳬं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्य प्रियं प्रमायुक्तं भवति॥ १९॥

तदाहुः । यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत् सर्वमभवदिति ॥ २० ॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥ २१ ॥

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे । अहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति । तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादियमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु । तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ २२ ॥

'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः' । इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं । क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म वह सब से प्रियस्वरूप है, उसी को जानना । पुत्र, वित्त, धन तथा सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है । तथा अन्तरतर आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है, जो कि अपने सबों का आत्मा है । जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है उसके प्रति (ब्रूयात्) कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है, सो तू दुःखसागर में गिर के सदा रोवेगा । और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना वा प्रीति

करेगा सो सदा रोवेगा। जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा सो सदैव रोवेगा। (आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति) और जो सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषणयुक्त परमेश्वर की उपासना करता है, वह इस लोक जन्म तथा परलोक परजन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त होता है। और उसी ईश्वर की कृपा से (ईश्वरो ह तथैव स्यात्) मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त हो के समर्थ सत्तावान् होता है अन्य नहीं। तथा (न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति) यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनंद सुख 'प्रमायुक' नष्ट कभी नहीं होता, किन्तु उसको सदैव स्थिर सुख रहता है। क्योंकि (अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति) जिस ब्रह्मज्ञान में सब परस्पर प्रीतिमान् होके जैसा अपने को सुख वा दुःख, प्रिय और अप्रिय जान पड़ता है, वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और दुःख तुल्य समझ के न्यायकारित्वादिगुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र के सुख में एकीभूत होके एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब करते हैं, क्योंकि जैसा अपना आत्मा है, वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है ॥ १९ ॥

(तदाहुः इत्यादि) जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला वही है, ऐसा ब्रह्मविद्यावालों का निश्चय है। सब जगत् में (तद् ब्रह्मावेत्) व्याप्त होके सबकी रक्षा कर रहा है, (किमु) और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं ॥ २० ॥

(ब्रह्म वा इदमित्यादि) सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्त्तमान था, सो अपने आत्मा को (अहं ब्रह्मा-

स्मीति तद्देवावेत्) स्वस्वरूप का विस्मरण उस को कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से जब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो ब्रह्म अविद्यानिद्रा से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञाननिद्रा से उठके ब्रह्मविद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है॥२१॥

(तद्धैतदित्यादि) इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता और प्राप्त हुआ मैं मनु और सूर्य्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्य्यलोकस्थ जन्मवाला हुआ था, ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो यह विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा सो भी इस प्रकार जानेगा कि (य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति) मैं ब्रह्म हूं, अर्थात् ब्रह्मस्थ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है, उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव इन्द्रिय वा अन्य विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते, किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रियस्वरूप होता है।

जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं, और आकाश तथा घर एक भी नहीं किन्तु पृथक् २ दोनों, हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी 'बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक, में स्पष्ट लिखा है, सो यह वचन है:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

(व्याख्या)—हे जीवात्मन् ! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है, तेरे में व्यापक हो के भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है, जो तेरे वीच में रह के तेरा नियन्ता है, उस अन्तर्यामी को छोड़के दूसरे पदार्थों की उपासना मतकर।

जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने अथवा उपासना करे वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूं तथा वह मेरे से भिन्न है, उस से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूं, सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु है, जैसा कि वैल वा गर्दभ वैसा वह मनुष्य है, जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता ॥ २२ ॥

इत्यादि प्रकरण विचार के विना चार अक्षर को पकड़ के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थ-विस्तार भय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है किन्तु शतपथ ब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है।

वैसे ही "तत्वमसि" यह भी सामवेद का वचन नहीं है, किन्तु सामब्राह्मणान्तर्गत 'छान्दोग्य' उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रक्खा है। उस में ऐसा प्रकरण है कि:—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्व्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् का आत्मा है। सो कैसा है कि जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति, आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो! यही सब जगत् का अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन, निर्विकार, सत्यस्वरूप, अविनश्वर है। (प्रश्न)—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं? (उत्तर)-(स आत्मा) परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उस का आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो! जो सर्वात्मा है, सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात्—"तदन्तर्यामी तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः" तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।

यष्टिकां भोजय अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मणं भोजयेति गम्यते, तथैव तद् ब्रह्म सहचरितस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा, अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीति विज्ञेयोऽर्थः। तात्स्थ्योपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रासम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः। अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्षष्टितमं सूत्रं प्रमाणमस्ति—**सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेपि तदुपचारः॥** एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति वेद्यम्॥

यहां भी सर्वशक्तिमत्व भ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादिगुणवाले ब्रह्म का संभव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पशक्तिमत्व, भ्रान्त्यादि दोषसहित्वादि गुणवाला जीव है। इससे ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।

चौथा "अयमात्मा ब्रह्म" इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषदादिकों का है। इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देखके कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही ब्रह्म है, अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक जीव के समझने के लिये यह वाक्य है।

तथा—"योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्" यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात् प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूँ। आदित्यो वै प्राणः" शतपथब्राह्मणे। तथा— "आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः" इति मुण्डकोपनिषदि। इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक सो जीवात्मा पुरुष मैं हूँ।

"यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति—हे जीवाः! यः असौ आदित्ये बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे स असौ अहमेवास्मीति मां वित्त"। हे जीवो! मुझको बाहर और भीतर तुम लोग जानो, कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूँ। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मन्त्र के आगे "अग्ने नयेत्यादि" मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है, तथा "ओं खं ब्रह्म" ओं जिसका सर्वोत्तम नाम है, खं आकाश की नाईं व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। इसका अर्थ भी तात्स्थ्योपाधि से करना—"इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव, नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितामिति विज्ञेयम्, यथेदं सर्वं घृतमेव नेदं तैलादिभिर्मिश्रितमिति॥"

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है, अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी जो चेतन सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं, जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शांत होके जीव अवश्य करे, और किसी की नहीं ॥

(२) दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं। सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि 'बृहदारण्यकादि' उपनिषद् तथा 'व्याससूत्र' और 'वेदादिशास्त्रों' में यही सिद्धांत है—"श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्धया निश्चिनोति, मनसा सङ्कल्पयति" इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे 'असिना छिनत्ति शिरः, तलवार को लेके किसी का शिर काटता है, इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है, काटने का साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है, इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप पुण्य का कर्त्ता भोक्ता जीव ही है, अन्य नहीं। यह 'गोतम मुनि' तथा 'व्यासादिकों' ने सिद्ध किया है कि:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्म-निष्ठ हैं।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इसमें भी जीव सुख दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव

से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है. इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोगरूप स्वमतलब साधने के लिये यह बात बनाई है कि"' जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप पुण्य से रहित है, यह बात नवीन वेदांती लोगों की मिथ्या ही है ॥

(३) तीसरे इनकी यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं। सो इनका केवल अविद्यांधकार का माहात्मा है। अन्य अधिक न हो इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है:—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

(अर्थ)—जिसका मूल सत्य है उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा। तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है, सो नित्य है, क्योंकि परमात्मा नित्य है, तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है, उसी से यह जगत् हुआ। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता।

जो ऐसा कहो कि—"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा"। सो यह बात अयुक्त है, क्योंकि जो पूर्व नहीं है सो फिर नहीं आ सकता, जिस कूप में जल नहीं है, उससे पात्र में जल नहीं आता। इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा।

कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं, हो सकता, वियोगान्त में नहीं रहता, सो वर्त्तमान में भी नहीं, सो जानना चाहिये।

इसका यह उत्तर है कि—विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है, जो पदार्थ नहीं हों उनका संयोग भी नहीं होता, इससे वियोग के अन्त में भी पृथक् २ वे पदार्थ सदैव रहते हैं, कितना ही वियोग हो तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ, सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है, सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के विना कभी नहीं मिल सकते, तथा वियोग होने के विना वियुक्त नहीं हो सकते। सो मिलना और पृथक् होना यह पदार्थों का गुण ही है। जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं, बालुका से नहीं, सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है, सो गुण सहज स्वभाव से है, वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत् बना है, उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वाभाविक) ही है। इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण जो ईश्वर का सामर्थ्य सो नित्य है। तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, उनका कहना और सिद्धांत मिथ्याभूत है, ऐसा निश्चित जानना॥

(४) चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्षसमय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत बिंदु का मिलना। यह भी इनकी बात मिथ्या है। इसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार न हो इसीलिये संक्षेप से लिखते हैं—

'कठवल्ली' तथा 'बृहदारण्यकादि' उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

(अर्थ)—जब जीव का मोक्ष होता है, तब पांच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान मन के साथ अर्थात् विज्ञान के साथ स्थिर होजाता है, और बुद्धि जो निश्चयात्मक वृत्ति सो चेष्टा न करे, अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्दस्वरूपयुक्त होके सदा आनन्द में रहता है। उसीको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥

सो अन्यत्र भी कहा है कि:—

परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥
इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य ॥

परम ज्योति जो परमात्मा उसको (उपसंपद्य) अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके (स्वेन रूपेण) अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके शुद्ध युक्त, ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्यवाला जीव मुक्त हो जाता है॥

वही स्वरूप 'शारीरक सूत्रों' के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि:—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥

मोक्षसमय में मन को छोड़ के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है, औरों का अभाव होता है, यह निश्चय बादरि आचार्य्य का है॥

तथाः—भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥

जैमिनि आचार्य्य का यह मत मोक्षविषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है। अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है॥

तथा बादरायण (व्यासजी) का मत ऐसा है कि:—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥

जैसे मृत शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवां जो दिन सो सत्रयागरूप माना है और भिन्न भी माना जाता है, उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं, तद्वत् मोक्ष में भी भाव और अभाव रहता है, अर्थात् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्तस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्ममरणादि दुःखों से छूट के सदा आनन्द में युक्त जीव रहता है, यह बादरायण जो व्यासजी उनका मत है ॥

और 'गोतम ऋषि' का भी ऐसा ही मत है। न्यायदर्शन अ० १। आ० १—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़बुद्धि, इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है; उस की निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं, दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्त है, वह निवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है, जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है, सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत् होता है ॥ २ ॥

बाधना—विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं उन—की अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के

आधार में अत्यन्तानन्द वह सदा के लिये प्राप्त होता है, इस का नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है ॥ २१-२२ ॥

इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता है। एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि:—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम् ॥

जो जीव सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी को स्वबुद्धि, ज्ञान में निहित (स्थित) जानता व प्राप्त होता है, वह परम व्योम व्यापक स्वरूप जो परमात्मा उस में मोक्षसमय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जो ब्रह्म उस के साथ सब कामों को प्राप्त होता है, अर्थात् सब दुःखों से छूटके परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है ॥

जो लोग जीव का लय मानते हैं, उन के मत में अनिर्मोक्षप्रसङ्ग दोष आता है, तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्याभ्रम अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्त-मोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगी इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होनेवाले जीव का लय ही होना है, फिर सब साधन निष्फल हो जायंगे, क्योंकि मुक्तिसुख का आनन्द भोगनेवाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता।

तथा जीव ब्रह्म की एकता माननेवालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं

हुई थी, तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था, वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्त शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है—"शुद्धमपापविद्धं कविः" इत्यादि यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है, उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं, भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं, नान्यत्र।

(प्रश्न)—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन हैं॥

वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके फिर प्रविष्ट हुआ। इस में जीवात्मारूप अन्तःकरण में प्रविष्ट होके नाम रूप का व्याकरण करूं। इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर) यह आप लोगों का अनर्थकरण है। क्योंकि परिपूर्ण, एकरस, सब में जो भरा है, वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता, किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुवा था। वा जब २ जिस २ जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब तब उस उस को अपने आत्मा में ही होता है। इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करनेवाला तथा जिस में प्रवेश करता है उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है।

तथा एक प्रवेश का करनेवाला और दूसरा अनुप्रवेश करनेवाला होता है, क्योंकि:—"शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरऽ-

स्तीति गम्यते"। इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है।

किंवा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है—

"अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपं व्याकरवाणीत्यन्वयः"। अत्र प्रमाणम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विधान और सङ्ग प्रतिपादन है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है, ऋषि मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं।

ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है, इस में प्रमाणः—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥१॥
ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १३। मंत्र १२॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर ! आपने (स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य तथा (ओजा) अनन्त पराक्रम से भूमि, जल, स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है, रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो ॥ १ ॥

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥२॥
ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १४। मंत्र १४ ॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर ! एक असहाय विश्व सब जगत् जो कि आप का अनुसङ्गी आपके रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है, सो आपसे अलग ही है, आप का स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि:—"अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि"। इस सब जगत् को आपने स्वरूप से अन्यत् भिन्न वस्तुभूत रचा है, आप जगत्रूप नहीं बने ॥ २ ॥

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुःपश्यति वीतशोको धातुःप्रसादान्महिमानमात्मनः॥३॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिःशाश्वती नेतरेषाम् ॥ ४ ॥

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है, परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादिदोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है। और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं ॥ ३ ॥

इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असङ्ख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्ग-पर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से

देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शांति सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ॥ ४ ॥

इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक व्याप्य, तथा अन्तर्यामी अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते । व्याससूत्र—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥

इतर जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती ॥

भेदव्यपदेशाच्च

ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं ॥

मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात् ॥

मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त होके आनन्दी होते हैं ॥

प्राणभृच्च ॥

प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ ॥

विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि भेदव्यपदेश, जीव और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है ॥

इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं । जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते । और जो जीव ब्रह्म एक होते तो निषेध का संभव नहीं हो सकता । इत्यादि व्यास के शारीरिक सूत्रों से भी स्पष्टसिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग अलग हैं ॥

तथा नवीन वेदांती लोगों ने पंचीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है । त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण विभाग वा संयोग करना असम्भव है ।

नवीन वेदांती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है. क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं. एक जगत् को मिथ्या मानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना।

जगत् मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत् स्वप्न के तुल्य है। सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहनेवाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के विना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता।

जो जीव ब्रह्म हो तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता? इससे जगत् को मिथ्या और ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत् को मिथ्या मानने में जगत् की उन्नति परस्पर प्रीति और विद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं।

जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट होजाता है, क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधनतत्परता, अन्याय का करना पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फंसने से अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्यजन्म धारण करने के जो कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से, मूर्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से उस जीव का जन्म निष्फल होजाता है।

इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठनपाठन और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से, स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना हठ दुराग्रह दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम २ पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना, इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्त्तव्य है। इन को सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है, इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है।

सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता माता, राजा, बन्धु जो परमात्मा उनसे मैं अत्यन्त नम्र हो के प्रार्थना करता हूं कि सब मनुष्यों पर कृपा करके असन्मार्ग से हटा के सन्मार्ग में चलावें, यही हमारा परम गुरु है॥

समाप्तम्॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

वैदिक-पुस्तकालय की पुस्तकों की संक्षिप्त सूची

नाम पुस्तक	मूल्य
ऋग्वेद भाष्य ६ भाग	५२)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण ——	२०)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	३)
,, ,, केवल संस्कृत	।।।)
अष्टाध्यायी भाष्य पहिला खण्ड	३॥)
,, ,, दूसरा खण्ड	३॥)
पञ्चमहायज्ञविधि ——	=)॥
निरुक्त —— ——	।।।=)
संस्कृतवाक्यप्रबोध ——	≡)॥
व्यवहारभानु —— ——	≡)
भ्रमोच्छेदन —— ——	=)॥
अनुभ्रमोच्छेदन —— ——	—)
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर)	≡)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला नागरी	)।।
,, मरहठी व अंग्रेज़ी	—), —)
गोकरुणानिधि —— ——	≡)
स्वामीनारायणमतखण्डन ——	।)
सत्यार्थप्रकाश ——	१॥)
आर्याभिविनय गुटका ——	≡)
आर्याभिविनय मोटे अक्षरों की	॥=)
संस्कारविधि	।।।=)
विवाहपद्धति —— ——	॥)

नाम पुस्तक	मूल्य
शास्त्रार्थ फ़ीरोज़ाबाद ——	।=)
वेदविरुद्धमतखण्डन ——	।—)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण नागरी	=)
,, अंग्रेज़ी	—)॥
भ्रान्तिनिवारण —— ——	।—)
शास्त्रार्थ काशी —— ——	—)॥
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश नागरी	)।।
,, अंग्रेज़ी	)॥
ऋग्वेद संहिता बढ़िया जिल्द	४)
यजुर्वेद संहिता ,, ,,	२)
सामवेद संहिता सजिल्द	१॥)
अथर्ववेद संहिता बढ़िया जिल्द	३॥)
,, ,, सादा	३)
चारों वेदों की अनुक्रमणिका	२।)
ईशादिदशोपनिषद् मूल ——	।।।)
छांदोग्योपनिषद् भाष्य ——	४)
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ——	४)
यजुर्वेदभाषाभाष्य ——	५)
नित्यकर्मविधिः	)।।
हवनमन्त्राः	)।।
कममोरेशन वाल्युम बढ़िया ——	१०)
,, ,, घटिया ——	५)

नोटः—डाकमहसूल सब का मूल्य से अलग होगा।

पुस्तक मिलने का पता—

मैनेजर—वैदिक-पुस्तकालय, अजमेर.